

## मोक्षशास्त्र प्रवचन

### षष्ठ भाग

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

तत्प्रमाणे सूत्रमें अज्ञान रूपोंकी प्रमाणताका तथा प्रमाणोंकी मनमानी संख्या व रचनाका निराकरण एवं सूत्रमें बताया था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँचों ही ज्ञान हैं। प्रत्येक ज्ञानमें उसका विस्तारसे वर्णन करनेके बाद अब १०वें सूत्रका अवतार हो रहा है। सूत्र है 'तत् प्रमाणे' यह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। जिस ज्ञानके बारेमें ५ ज्ञान विशेष बताये थे वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। इस सूत्रमें मुख्यतया दो बातें बतायी गई हैं जैसे पद दो हैं तत् प्रमाणे, तत्का अर्थ है वह ज्ञान, प्रमाणेका अर्थ है दो प्रमाण रूप है। तो यहाँ एकका अवधारण दोनों जगह लगेगा। वह ही दो प्रमाण रूप है। वह दो प्रमाणरूप ही है। इन दो एवकारोंसे किन-किन मतोंका निराकरण होता? सो सब परखते रहना। वह ज्ञान ही दो प्रमाण रूप है अर्थात् अज्ञान नहीं है प्रमाणरूप, किन्तु ज्ञान ही है प्रमाणरूप। तो जो लोग ज्ञानको छोड़कर अन्य-अन्य बातोंका प्रमाण माना करते हैं उनके मंतव्यका निराकरण हो जाता है। कोई कहता है कि इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, कोई कहता है कि इन्द्रियोंका सन्निकर्ष प्रमाण है, कोई कहता है कि नाना पदार्थोंका समूह जुट जाये वह प्रमाण है। इस प्रकार जो-जो अज्ञानको प्रमाण मानते थे उन सबके मंतव्यका निराकरण हो जाता है। ज्ञान ही प्रमाणरूप है, अज्ञान प्रमाणरूप नहीं होता। दूसरे पदमें जो एवका अवधारण किया है वह दो प्रमाणरूप ही है। इससे प्रमाणकी जो मनमानी संख्या लोग मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है? प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे ही दो प्रमाण होते हैं। इनके भेद किए जायें तो परोक्ष तो हुए मति स्मृति संज्ञा, चिंता, अनुमान, आगम अथवा श्रुत कहो और प्रत्यक्षमें हुआ अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, इनसे अतिरिक्त या अन्य-अन्य नामोंसे जो संख्यायें मानी जाती हैं वे सही नहीं हैं। इस सूत्रमें इन दोनों बातोंका बहुत विवेचन चलेगा। ज्ञान ही प्रमाण है अज्ञान नहीं। ज्ञान एक ऐसे ही दो प्रमाण संख्याओंमें है, अन्यरूपसे नहीं। तो स्वरूप और संख्या इन दोनोंके सम्बन्धमें जो मंतव्योंमें भेद है, नानापन है, इन सबका निराकरण हो जाता है। तो इस सूत्रमें दो बातोंपर प्रकाश डाला है कि ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नहीं। और समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इनमेंसे न कुछ है। उसके अलावा और कुछ नहीं।

इन्द्रियोंकी प्रमासाधकतमता होनेसे प्रमाणरूपताका कुछ दार्शनिकों द्वारा प्रस्ताव अब सूत्र विरुद्ध दो मंतव्यों मेंसे पहली बातका विवरण किया जा रहा है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। क्योंकि प्रमाणका अर्थ है जो प्रमाका साधकतम हो, जो

जानकारीमें खास साधकतम हो उसे कहते हैं प्रमाण। तो इन्द्रियोंके बिना कोई ज्ञान नहीं। जब इन्द्रियाँ जाननेमें कम आ रही हैं तो हम तो जानते हैं कि इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं, अन्य कुछ प्रमाण नहीं। कभी योगियोंको सातिशय प्रत्यक्ष होता है तो वहाँ भी योगजधर्मानुगृहीत इन्द्रियाँ ही प्रमाणभूत हैं। और देखो यदि ज्ञानको प्रमाण कहोगे तो ज्ञान तो संशयज्ञान भी ज्ञान है, वह भी प्रमाण हो बैठेगा। विपरीत ज्ञान भी ज्ञान है। वह भी प्रमाण हो जायेगा। ज्ञानको प्रमाण माननेमें बड़ा दोष आता है, इसलिए ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, ऐसा ये नैयायिक मीमांसक सिद्धान्त वाले कह रहे हैं। चूँकि ज्ञानको प्रमाण माननेमें दोष आता, अतएव ज्ञान प्रमाण नहीं, किन्तु इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। और ये ज्ञान-ज्ञान चिल्लाने वाले लोग इन्द्रियोंसे कोई काम लें नहीं और ज्ञान करके बता दें। जब ज्ञानमें साधकतम इन्द्रियाँ हैं तो इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं, अन्य कुछ प्रमाण नहीं। ज्ञान प्रमाण होता तो जो कुछ भी ज्ञान हो जाये वह सारा प्रमाण बन जाना चाहिए। कभी-कभी आँखोंमें ऐसी बीमारी हो जाती कि चन्द्रमा दो-दो, तीन-तीन, चार-चार दिखने लगते। तो ज्ञान तो हो रहा कि वे चार चन्द्रमा हैं, ज्ञान हुआ तो उसे प्रमाण मान लो। फिर क्यों कहते ऐसा कि तुमको गलत दिख रहा है। क्यों गलत हो रहा? ज्ञान ही तो हो रहा। सो ज्ञान प्रमाण नहीं, किन्तु इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं। ऐसी यहाँ नैयायिक अपनी शंका रख रहे हैं।

**इन्द्रिय प्रमाणत्वकी आरेकापर मीमांसाका प्रारम्भ** अब उक्त शंकाके सम्बन्धमें विचार कीजिये। तत् प्रमाणे, इस सूत्रमें यह बात कही जा रही है कि वह ज्ञान दो प्रमाण रूप है। ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान नहीं। ज्ञान दो प्रमाण रूप है, अन्य अटपट संख्यारूप नहीं। इस तरह इसमें दो बातोंका दिग्दर्शन किया है। तो इस विषयमें जो शंकाकारने शंका रखी थी कि हमें तो ज्ञान प्रमाण नहीं जंचता, किन्तु ज्ञान करनेमें जो कारण पड़ता है, साधकतम हैं ऐसी जो इन्द्रियाँ हैं वे हमको तो प्रमाण लग रही हैं। तो ठीक ही है। संसारी जीवोंको ज्ञानसे प्रेम नहीं है, इन्द्रियसे प्रेम है। इसलिए हर बातमें इन्द्रियको सामने रखकर ज्ञानमें लेते हैं। सभी लोग सोचो अपने-अपने चित्तमें कि हमको ज्ञानसे प्रेम है या इन्द्रिय से? इन्द्रिय से? इन्द्रियके विषयभूत रूप, रस, गंध, स्पर्श, इनमें कितनी अधिक प्रीति जगती है? ज्ञानकी कभी कोई सुध लेना है? इन्द्रियमें रुचि है इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियजन्य सुखमें विश्वास बन रहा है। तो यहाँ प्रमाणको भी एक शंकाकार बतला रहा कि ये इन्द्रियाँ प्रमाण हैं और युक्ति यह देते कि ज्ञानको प्रमाण मानेंगे तो बड़ा दोष आयेगा। संशय ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा, ऐसे अनेक जगह दोष आने हैं। तो इन प्रस्तुत आपत्तियोंका तो फिर निराकरण करेंगे। अभी तो यह समझ लें कि इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं, ज्ञान प्रमाण नहीं, इसमें कुछ तथ्य है या नहीं? इसका दार्शनिक विधिसे अनुमान भी बनाया शंकाकारने कि जो ज्ञान करनेमें साधकतम हो वही प्रमाण कहलाता है। जैसे किसी चीजको समझानेके लिए विशेष प्रमाण होता है। जैसे कोई यहाँ पगड़ी बांधे बैठा है, उसका नाम लेकर किसीसे कहा जाये कि अमुक पुरुषको यहाँ बुला लाओ, और वह उसे जानता था नहीं, सो पूछ बैठा कि कौन है वह पुरुष? तो बताया गया कि जो पगड़ी वाला

है वह अमुक पुरुष है। तो वह जाता है और उसे बुला लाता है। तो देखिये पगड़ी वाला यह विशेषण बन गया। तो जैसे विशेषको जाननेके लिये विशेषण प्रमाण है, ऐसे ही समस्त पदार्थोंको जाननेमें इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, क्योंकि इन्द्रिय द्वारा काम बना तब उसका ज्ञान हो सका। अब इसके उत्तरमें सुनो शंकाकार क्या कह रहा कि इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। देखो दार्शनिक शास्त्रमें कुछ बातें समझनेके लिए दो पद्धतियाँ बनती हैं एक तो अनेक विकल्प करके उन विकल्पोंमें जवाब देना। यहाँ यह नहीं सोचना कि शंकाकार पहले विकल्पमें ही परेशान हो जायेगा, इस कारण विकल्प उठाये जाते हैं और परेशान करनेका आचार्योंका मंतव्य होता नहीं, लेकिन विकल्प द्वारा उत्तरका स्पष्टीकरण होता है और दूसरी पद्धति है अविनाभावी हेतु देना, सो इसी आधारपर इन्द्रिय प्रमाणतापर विचार चलेगा।

**भौतिक इन्द्रियोंमें प्रमाणत्वकी असंभवता** पहले यह इन्द्रिय प्रमाणत्ववादी बतायें कि इन्द्रियाँ यदि प्रमाण हैं तो वे इन्द्रियाँ अचेतन हैं या चेतन हैं? जिन इन्द्रियोंको तुम प्रमाण बतला रहे हो वे इन्द्रियाँ अचेतन हैं या चेतन हैं? भौतिक हैं या चेतन हैं? यदि कहो कि इन्द्रियाँ तो भौतिक हैं तो भौतिक इन्द्रियाँ कभी प्रमाण नहीं बन सकतीं। जैसे घट पट, खम्भा, दरी, चौकी आदि ये प्रमाण हैं क्या? प्रमाण तो नहीं हैं। जब भौतिक हैं ये इन्द्रियाँ तो इन्द्रियाँ कैसे प्रमाण बन जायेंगी याने ज्ञानका साधकतम कैसे हो जायेंगी? और यदि भौतिक इन्द्रियाँ प्रमाण बन जायें, ज्ञान बन जायें तो फिर तो पुरुष मर गया है। उसकी द्रव्येन्द्रियाँ भी ज्ञान बन जायें, प्रमाण बन जायें। फिर वह उन इन्द्रियों द्वारा कैसे नहीं जान पाता? तो यहाँ शंकाकार थोड़ी अपनी सफाई दे रहा है तो वे भौतिक इन्द्रियाँ जो कि ज्ञानकी साधकतम हैं और वे प्रमाण हैं, किन्तु जब वह प्रमाणसे अधिष्ठित हों याने आत्मासे अधिष्ठित हों तब वे भौतिक इन्द्रियाँ प्रमाण होती हैं। जैसे लोग कह देते ना कि जब तक जीव है तब तक ये इन्द्रियाँ काम करती हैं, ज्ञान करती हैं प्रमाण होता है, तो ऐसे ही जब तक प्रमाता ज्ञाता आत्माके द्वारा अधिष्ठित हैं इन्द्रियाँ, तब तक ये इन्द्रियाँ प्रमाणभूत हैं। ऐसी बात शंकाकारने रखी, तो इस विषयमें यह बात आसानीसे सोची जा सकती है कि जब यह शंकाकार कह रहा है कि जब तक जीव है इन इन्द्रियोंमें, इस शरीरमें तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण हैं तो जब जीव सोया हुआ है, जब कोई आदमी सोया हुआ है तो बताओ वहाँ जीव है कि नहीं? मरा तो नहीं वह। तो जीव जब तक है तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण हैं ऐसा कहनेसे तो सोये हुए पुरुषकी इन्द्रियाँ भी प्रमाण बन जायें और सोये हुए मनुष्योंकी इन्द्रियोंसे प्रमाण तो नहीं होता कुछ, ज्ञान तो नहीं होता कुछ। तो यह भी कथन ठीक नहीं कि जब तक जीव सहित है तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। यदि शंकाकार यह कहे कि थोड़ी-सी एक बात और जोड़ दो। जब तक जीव प्रयत्न वाला बन रहा है तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। अब धीरे-धीरे शंकाकार कुछ ठिकानेकी ओर चल रहा है, मगर अपनी पर्यायबुद्धिकी कुटेब नहीं छोड़ रहा। अब यह कह रहे हैं कि जब तक जीव है इस शरीर में, इन्द्रियोंमें और जब तक जीवका कोई प्रयत्न चलता है तब तक इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। तो प्रयत्नवान जीवसे अधिष्ठित इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। ऐसा शंकाकारका यह सुधार होकर प्रस्ताव आया है। तो अब पूछते हैं कि तुम कुछ-कुछ ठीक

तो कह रहे हो कि व्यापार करते हुए जीवसे प्रतिष्ठित इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, पर वह व्यापार, वह प्रयत्न, वह पौरुष क्या चीज है? जैसे व्यापारसे सहित होनेपर याने जैसा प्रयत्नयुक्त होनेसे इन्द्रियाँ काम करती हैं, ज्ञान होता है, प्रमाण बनता है वह प्रयत्न है क्या? पहले यह ही बतलाओ कि वह प्रयत्न अचेतन है या चेतन? जीव जो प्रयत्न करता है जाननेके लिए, जिस प्रयत्नसे सहित होकर ये इन्द्रियाँ प्रमाण बनती हैं, वह प्रयत्न अचेतन है कि चेतन? यदि कहो कि अचेतन है तो प्रयत्न करनेपर भी उसका धेला नहीं उठेगा, क्योंकि अचेतन है प्रयत्न, तो अचेतन अकिंचित्कर है। जैसे घट-पट आदिक अचेतन हैं और ये चाहे कितना ही व्यापार करें, पर उससे क्या कुछ ज्ञान उठता है? तो आत्माका ही प्रयत्न, जिस प्रयत्नसे सहित होकर इन्द्रियाँ प्रमाण बनती हैं। वह प्रयत्न यदि अचेतन है तो वह अकिंचित्कर है। वह प्रमाण नहीं बन सकता, उससे कुछ सहयोग नहीं मिल सकता, और यदि कहो कि इसमें वह प्रयत्न चेतन है, जिस प्रयत्नसे सहित होनेपर ये इन्द्रियाँ प्रमाणभूत होती हैं। तो आचार्यदेव कहते हैं कि लो अब ठिकाने आये। देखो जिस प्रयत्नको तुम चेतन कहते हो और जिस चेतन वाले इन्द्रियको प्रमाण कहते हो उसीका नाम तो भावेन्द्रिय है और भावेन्द्रिय प्रमाणभूत है।

**भौतिक इन्द्रियोंका परिचय** देखो जैनशासनके अनुसार इन्द्रियां दो प्रकारकी हैं (१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय तो शरीरकी रचनारूप हैं जो दिख रही हैं। ये कान, नाक, आँख, जीभ और यह सारा चमड़ा ये पांचों हैं द्रव्येन्द्रिय। ये द्रव्येन्द्रिय पौद्गलिक हैं, भौतिक हैं तो इन इन्द्रियोंमें भी देखो नामकर्मकी कैसी रचना है कि सब इन्द्रियोंके साथ निर्वृत्ति और उपकरण लगे हुए हैं। निर्वृत्ति तो है वह जो खास इन्द्रिय है ना, जिसके निमित्तसे ज्ञान किया जाता है उसकी रचना और उपकरण क्या है? उसकी रक्षा करनेके लिए जो आस-पासकी और चीजें बनी हैं वे हैं उपकरण। जैसे आप बतला सकते हैं क्या कि आँख कितनी बड़ी है? आप तो उतनी बड़ी बोलेंगे जितनी कि पूरी आँख दिख रही है, पर आँख उतनी बड़ी नहीं है। उस आँखमें जो सफेदी है वह भी आँख है क्या? अच्छा तो जितना यह काला है वह तो आँख होगी? नहीं, नहीं। जितना यह आँखका काला भाग दिख रहा है वह भी आँख नहीं है। तो उस कालेके अन्दर जो और काला है वह आँख होगी? हां-हां वह है द्रव्येन्द्रिय। तो अब देखो आँख तो मसूरके दानेके बराबर है, मगर उसकी रक्षा करनेके लिए उसके पास और गोल-गोल काला पिण्ड लगा है और उसके बाद सफेद पिण्ड भी लगा है और इसके बाद भी इनमें पलक भी लग गए। आंधी आये तो आँखोंको मींच लें, नहीं तो धूल आँखोंमें भर जायेगी। देखो कितनी सुविधा-सहूलियत मिल रही है? सो इन पलकोंसे क्या काम करें? ये पलक किसलिए हैं? अगर आंधी आये, धूल आये तो आँखें मींच लेनी चाहिएँ। और क्या-क्या कर लेंगे? और जानना चाहते हो। अच्छा, देखो आँखकी पलकोंका उत्तम सदुपयोग तो यह है कि इन्हें जब चाहे सदा बंद रखे रहें। जब जरूरत हो तब थोड़ा खोल लें, अपना काम कर लें बाकी समय इन ढक्कनोंसे आँखोंको बन्द किये रहे। देखो ये आँखें और यह जीभ इन दोनोंने परेशान कर रखा है सबको। जीभने तो इसकी इतनी परेशानी कर रखी कि कुछ पूछो ही नहीं। न शास्त्र सुनने दे, न

सुनाने दे। एक तो यह ही परेशानी है। दूसरी परेशानी यह है कि कुछसे कुछ जीभ चटपटी चटीली चीजें स्वाद लेनेके लिए इसे चाहियें। उसपर सांपकी जीभ जैसी मटकती है, उसीके लिए तो रात-दिन मर रहे हैं, परेशान होते फिर रहे हैं। इस चार अंगुलकी जीभने इस मनुष्यके जीवनको नीरस बना डाला। अच्छा, और आँखोंसे क्या परेशानी है? जितनी सारी उलझनें इस मनुष्यको बनती हैं उनका प्रारम्भ इन आँखोंसे होता है। पहले तो आँखें बहुत दिन तक तो देखतीं रहीं, फिर मन में आया कि इससे बोल लें, फिर उससे बोलना शुरू किया। फिर मनने और राग बढ़ाया। और मोह बढ़ा तो जितनी बड़ीसे बड़ी उलझन हैं उन सारी उलझनोंका मंगलाचरण ये आँखें करती हैं। तो देखो इतनी बड़ी कठिनाइयां आती हैं इन दो आँखोंसे और मुख से। मगर देखो जितनी बड़ी बाधा इनसे मिल रही है इतनी बड़ी सुविधा भी हमारे पास है। आँखोंके लिए भी दो ढक्कन हैं और मुखके लिए भी दो ढक्कन हैं। हैं ना होठ। अरे क्यों उलझनमें पड़ते? उन ढक्कनोंसे काम कर लो। दोनों होठ बन्द कर लो, झगड़ा समाप्त, न हल्ला होगा न गुल्ला, न क्षोभ आयेगा, न अशान्ति। इन आँखोंके पलक बन्द कर लें तो सारी कल्पनायें खत्म हो जायेंगी। ऐसा मार्ग निकल आनेकी संभावना है। तो देखो ये द्रव्येन्द्रियाँ निर्वृत्ति और उपकरण हैं।

**द्रव्येन्द्रियोंकी पौद्गलिक वर्गणाओंसे निर्वृत्तता** ये द्रव्येन्द्रियाँ सब नामकर्मसे निर्वृत्त हैं। समय सारमें उदाहरण इस तरह दिया कि देखो जैसे लोहेसे बनी तलवार लोहमय है इसी तरह नामकर्म पौद्गलिकसे रची हुई जो इन्द्रियाँ हैं, शरीर है, वह पौद्गलिक है। तब जरा इसपर ध्यान दें जैसे कहते हैं ना कि लोग कि कर्मपर दृष्टि दो तो निमित्त है, न दृष्टि दो तो निमित्त नहीं, पर यह भी याद है कि कर्मके चार भेद होते हैं (१) जीवविपाकी, (२) पुद्गलविपाकी, (३) क्षेत्रविपाकी और (४) भवविपाकी। तो इनमें पौद्गलिक कर्म तो अज्ञात है, उसपर कोई दृष्टि नहीं देता, न कोई दूसरा सहारा ले पाता, किन्तु उसका तो ठीक निमित्तनैमित्तिक योग चल रहा है। आश्रय लेता है कोई तो इन आश्रयभूत बाह्य पदार्थोंका लेता है। अब निमित्त इसका भी नाम है, उसका भी नाम है। तो उपचरित निमित्तको भी निमित्त बोलते हैं और वास्तविक निमित्तको भी निमित्त कहते हैं, पर निमित्तनैमित्तिक कहकर अभी तो सबकी दृष्टिमें यह बात थी कि हां ठीक ही तो है कि बाह्य पदार्थोंका आश्रय लें तो विकार होता है, न लें तो विकार नहीं होता है, मगर उससे हटकर वास्तविक निमित्तपर यदि ऐसा आक्रमण बने याने कहें कि कर्म कुछ निमित्त नहीं, उसका आश्रय लें तो निमित्त हैं तो वहाँ कर्मकी ओरसे गलती यों नहीं कि निमित्त उपादानका इस तरहका सम्बन्ध नहीं है कि निमित्तको हम जानें तो वह निमित्त बने। अरे बाह्यमें जो निमित्त है वह उपचरित निमित्त कहलाता है। इसे कहते हैं आश्रयभूत कारण। एक जगह ऐसा घटा लें तो सब जगह तो न घटेगा। एक वास्तविक निमित्तपर न घटा, अच्छा खैर, इसे भी छोड़ो तो यह बतलाओ कि पुद्गलविपाकी कर्म प्रकृतिमें ऐसा घट सकता क्या कि उनका आश्रय लें, उन्हें जानें तो वे निमित्त बनें। वहाँ तो बिल्कुल ही घटित न होगा। कैसे? पुद्गलविपाकीकी कर्म प्रकृतियोंका उदय होता है तो उस समय शरीरकी

रचना होती है। जितने प्रकारके बताये गए ये ही तो निमित्त हैं और वह इस ढंगका निमित्त है, विलक्षण निमित्त है कि वह इस शरीर उपादानमें भी कुछ काल व भागमें मिलकर कुछ अंशमें उपादान-सा बनकर कुछ शरीरका आरंभ बनता, फिर चाहे वहाँसे खिसक जाये यह वर्गणा।

नामकर्मकी प्रकृतियाँ इसी ढंगकी हैं, तब ही मरतोस सारमें बड़े स्पष्ट रूपसे यह बताया है कि जैसे लोहेसे रची गई तलवार लोहामय है। इसी तरह पौद्गलिक नाम कर्म प्रकृतियोंसे रचा गया शरीर (इन्द्रियाँ) पौद्गलिक हैं। इनकी रचनाके दृष्टान्तमें उपादानका दृष्टान्त दिया गया है। लोहा उपादान है तलवार का। तो वहाँ ऐसा निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जीवके भावकी वहाँ उस समय आश्रयकी बात नहीं लगती। यह तो भाव पहले कर चुका और जिस प्रकारका परिणाम किया उस प्रकारका नामकर्मका बन्ध हुआ। अब उदय कालमें वर्तमान भावकी देह रचनामें दाल नहीं गल रही। वहाँ तो उस प्रकारकी रचना बनी है, निमित्त-नैमित्तिक योग है। भावोंकी दुकान अब भी अपनी न्यारी चल रही। बाह्य वस्तुओंका आश्रय करनेपर जो विकार होता वह व्यक्त विकार बनता है, ऐसी वहाँ फैक्टरी चल ही रही है विभाव की। सो घटिया कर्मका जो विपाक है वह अलग है और नाम कर्मकी जो चीज है उसकी पद्धति अलग है। निर्माण पद्धतिमें ही अन्तर है। यहाँ तीन कारण समझने हैं निमित्त, उपादान और आश्रयभूत। रागद्वेषादिक, कषाय, विकार इनके होनेमें तीन कारण आते हैं निमित्त उपादान और आश्रयभूत। किन्तु शरीर रचनामें दो कारण हैं निमित्त व उपादान तो सब जगह समझ लीजिए, जहाँ आश्रयभूत कारण है उसकी तो विशेष तैयारी है, मगर निमित्त और उपादानकी जो पद्धतियाँ हैं वे सर्वत्र एक ढंगकी हैं अर्थात् निमित्त उपादानमें कुछ करता नहीं, पर निमित्त उपस्थित हुए बिना विकार होता नहीं। इसका आप जितना अर्थ समझते हों उतना विवरणमें चले जायें।

**अचेतन द्रव्येन्द्रियोंमें प्रमाणत्वकी असंभवता चेतक भावेन्द्रियोंमें प्रमाणत्वकी संभवता** बात क्या कही जा रही है प्रकृत में? ये इन्द्रियाँ जिनको कि प्रमाण कहा जा रहा है ये चेतन हैं तो वे भावेन्द्रिय कहलायेंगी। और जो द्रव्येन्द्रियाँ हैं वे भौतिक हैं, पौद्गलिक हैं वे केवल नाम कर्मसे निष्पन्न हैं। उसमें जीवके भावका वहाँ सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि जीवके आधारसे जब तक है, तब तक ये इन्द्रियाँ काम करती हैं और इन्द्रियोंकी रचना भी तब ही हुई है। इतना होनेपर भी द्रव्येन्द्रियकी रचनामें इस जीवके भावका संयोग नहीं, वहाँ पुद्गलविपाकी कर्मका निमित्त पाकर आहारवर्गणायें शरीररूप परिणम गईं। हां इतनी बात अवश्य है कि यह प्रमाता जीव वहाँ उपस्थित है तो इस तरहका काम चल रहा है। पर उपस्थित है, निमित्तपना नहीं है। द्रव्येन्द्रियोंका निमित्तपना शरीर नामकर्मकी प्रकृतियोंसे है। तो बात यह इसलिए कही जा रही है कि द्रव्येन्द्रिय निपट भौतिक है। जितनी द्रव्येन्द्रियाँ हैं उतनीकी बात समझ लो। थोड़ा एक कथन सुना होगा। निर्वृत्ति दो प्रकारकी कही गई हैं (१) आभ्यन्तर निर्वृत्ति और (२) बाह्यनिर्वृत्ति। बाह्यनिर्वृत्ति तो कहलाती है, उन इन्द्रियोंके आकारमें आहारवर्गणाओं की, पौद्गलिक वर्गणाओंकी रचना और आभ्यन्तर निर्वृत्ति वह कहलाती

है कि उन इन्द्रियोंमें आत्मप्रदेशका रहना। तो देखो इस तरह अधिष्ठाता मात्रका बोध होता है। इस शरीरमें ये आत्मप्रदेश निरन्तर बड़े वेगपूर्वक चक्र लगते रहते हैं, और जब आत्मप्रदेशका निरन्तर द्रुत गतिसे चक्र चलता है तो आप बतलाओ कि जो आत्मप्रदेश इन्द्रियपर हैं, आँखपर हैं वे प्रदेश तो वहाँ न रहे। बदल-बदलकर प्रदेश चलते रहते हैं सारे शरीर में। इन सब इन्द्रियोंमें तो फिर ज्ञान कैसे होता? ज्ञान तो होता कि चक्षुरिन्द्रिय वारणका क्षयोपशम आँखकी जगह रहने वाले आत्मप्रदेशमें ही हो ऐसा नहीं, किन्तु वह तो सर्वत्र क्षयोपशम है, लगाता रहता चक्र। तो इससे यह ध्वनित होता है कि भले ही आभ्यन्तर निर्वृत्ति है द्रव्येन्द्रियके साथ, लेकिन उसकी उपादानमयी रचनामें उसका हाथ नहीं, अर्थात् ये आत्मप्रदेश उपादान बनकर द्रव्येन्द्रिय नहीं बनते। इस तरह ये द्रव्येन्द्रियाँ निपट पौद्गलिक हैं। तो अचेतन इन्द्रियाँ तो ज्ञान करती नहीं, चेतन इन्द्रियाँ ज्ञान करती हैं। उसका अर्थ है कि भावेन्द्रियाँ ज्ञान करती हैं। तो भावेन्द्रियाँ तो प्रमाण हैं और द्रव्येन्द्रियाँ प्रमाण नहीं। अब भावेन्द्रिय कैसे प्रमाण हैं और उससे सिद्धान्तका विरोध नहीं आता, यह बात आगे कहेंगे।

**शंकाकार द्वारा प्रस्तुत इन्द्रियोंकी प्रमाणताकी शंकाके समाधानका उपसंहार** पदार्थके जाननेके उपाय यहाँ मुख्यतासे दो बताये गए थे प्रमाण और नय। प्रमाण और नयोंसे तत्त्वोंका और सम्यग्दर्शन आदिकका अधिगम होता है। प्रमाण क्या चीज है? उसके विवरणमें ६वाँ सूत्र आया था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये ५ ज्ञान हैं और उसके समर्थनमें यह १०वाँ सूत्र आया कि वह सब दो प्रमाणरूप हैं ज्ञान और प्रमाण ये दो बातें यद्यपि एक हैं लेकिन इनमें विशेषण विशेष्य भावका भेद है। प्रमाण तो है विशेष्य और ज्ञान है विशेषण। क्या है प्रमाण? ज्ञान है प्रमाण। उस ज्ञानकी प्रमाणताकी बात बहुत विस्तारसे चली थी। उस प्रकरणको सुनकर शंकाकारने यह कहा था कि हमको तो ऐसा लगता है कि इन्द्रिय ही प्रमाण है, ज्ञान कुछ नहीं है। जानकारी जो होती है वह इन इन्द्रियोंकी दयासे होती है और इन्द्रियोंसे हम काम लेते रहते हैं तो इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं, ज्ञान प्रमाण नहीं है। इस शंकाके समाधानमें यहाँ दो बातें आयीं कि मान लो इन्द्रियाँ प्रमाण हैं तो जो इन्द्रियाँ प्रमाण हैं वे इन्द्रियाँ अचेतन हैं या चेतन? अचेतन इन्द्रियाँ तो प्रमाण बन नहीं सकतीं और चेतन इन्द्रिय कहना सो ठीक है, सिद्धसाधन है। चेतन इन्द्रियके मायने भावेन्द्रिय याने लब्धि और उपयोगरूप भावेन्द्रिय। ये भावेन्द्रियाँ किसकी पर्याय हैं? ये चेतनकी विकृत पर्याय हैं। जीवकी परिणति हैं, पुद्गलकी परिणति नहीं। शब्द यद्यपि 'इन्द्रिय' लगा है इसमें, किन्तु साथमें भाव भी तो लगा है। भावेन्द्रिय, लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। अब यहाँ देखो लब्धिका अर्थ है आवरणका क्षयोपशम। तो आवरणका क्षयोपशम जीवमें है कि कर्म में? वह तो कर्ममें है। फिर यहाँ कैसे कह दिया कि भावेन्द्रिय इस जीवकी एक परिणति है। तो लब्धि मायने यह है कि आवरणका क्षयोपशम होनेपर जो योग्यता बनती है वह है लब्धि। तो यह योग्यता जीवकी है और उपयोग लगा, जिस ओर अभिमुख हुआ उसीका नाम उपयोग है। तो उपयोग तो उपयोग है ही। तो बात असलमें ज्ञान तक ही तो आयी।

भावेन्द्रिय मायने ज्ञान। जैसे कुछ दार्शनिक मानते ना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और भौतिकेन्द्रिय। तो जो ज्ञानेन्द्रिय है सो ही भावेन्द्रिय है। यह प्रमाण है याने जहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हो रहा है वहाँके प्रसंगकी बात है। सर्वत्र यह ही प्रमाण है सो नहीं, मगर भावेन्द्रिय प्रमाण ही है। भावेन्द्रिय ही प्रमाण है ऐसा नहीं, किन्तु अवधिज्ञान भी प्रमाण है। मनःपर्ययज्ञान भी है, केवलज्ञान भी है वह भी प्रमाण है और जो भावेन्द्रिय है वह अप्रमाण नहीं, वह प्रमाणभूत है। तो ज्ञान ही प्रमाण है यह बात आयी ना? जैसे अचेतन पक्षमें शंकाकारने यह कहा था कि आत्मा व्यापारसहित हो तब उसकी इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, तो वह व्यापार क्या है? यह ही उपयोग। उपयोग लगायें, उस ओर अभिमुख हों, ध्यान दें तो वह ध्यान देना, उपयोग देना ये सब ज्ञान ही कहलाते हैं। तो ज्ञान ही प्रमाण है, यह बात आयी।

**शंकाकार द्वारा इन्द्रियार्थ सन्निकर्षकी प्रमाणता मान लेनेका प्रस्ताव** इन्द्रियोंकी प्रमाणता सिद्ध करनेमें जब थक गया शंकाकार कि हमने इन्द्रियको प्रमाण सिद्ध करनेकी बहुत कोशिश की, मगर हम सफल न हो सके। अब क्या करें? कसम तो यह खा रखी है कि हम न बोलेंगे मुखसे कि ज्ञान ही प्रमाण है। अब दाल कैसे गले? तो एक बात और उनकी सुनो, वह कहता है सुनो-सुनो, अभी मामला खत्म न करो, इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, इसका अर्थ यह लगाओ कि इन्द्रियोंका सन्निकर्ष प्रमाण है। इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, ऐसा कहनेमें तो विपत्ति देना एक सरल बात हो गई। मगर इन्द्रिय और पदार्थ इनका जो भिड़ाव है वह प्रमाण है। जैसे स्पर्शनइन्द्रिय है, हाथ है ना? हाथ तो स्पर्शनइन्द्रिय प्रमाण नहीं, किन्तु स्पर्शनइन्द्रिय और ठंडा जल, ठंडी बरफ इनका हो गया सम्बन्ध, तो यह है प्रमाण। इसे बोलते हैं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष। अब इसमें क्या आपत्ति देंगे? जब चीजमें हाथ लगाया तब ही तो ज्ञान बनता। जब जीभपर चीज रखा तब ही तो रसका ज्ञान बनता। जब नाकमें गंधके परमाणु जायें तब ही तो गंधका ज्ञान बनता। और जब कानमें शब्द जायें तो शब्द सुनना बनता और आँखोंसे कैसा सन्निकर्ष? सो सुनो शंकाकार कह रहा है कि आँखें यों अलग रहकर नहीं देखती हैं, आँखोंसे किरणें निकलती हैं और वे किरणें पदार्थपर लगती हैं, ऐसा जब भिड़ाव होता है आँखका और पदार्थका तब ज्ञान होता है तो वहाँ भी यह सन्निकर्ष है।

**वास्तविकताका किंचित दिग्दर्शन कराते हुए शंकाकारकी शंकाका विवरण** देखो बात सब आगे आयेगी, प्रकरण होगा तो। इन्द्रिय और मन ये दो अप्राप्यकारी माने गए हैं। बाकी इन्द्रियाँ तो भिड़कर जानती हैं। स्पर्शन तो जब स्पर्शनइन्द्रिय छुवे किसी चीजको तब स्पर्शका ज्ञान होता। ऐसे ही रसनापर जब कोई चीज आयी तो रसका ज्ञान होता, ऐसे ही नाकमें भी स्पर्श होता, मगर आँख बिना छुवे ही दूरसे पदार्थको जानती है। किरणकी बात गलत है कि आँख मेंसे किरणें निकलती हैं और पदार्थको छूती हैं तब जानती हैं। वह विषय एक अलग है। अगर किरणें निकलकर जानें तो आप यह बतलाओ कि सामने अगर बहुत मोटा काँच रख दिया जाये तो किरणें तो काँचको छू जायेंगी, अड़ जायेंगी, फिर काँचके पीछेकी चीजें क्यों जाननेमें आ जाती हैं? आँखोंसे किरणें निकलें,



पदार्थको छुवें तब रूप जाननेमें आये, ऐसा नहीं है। खैर, वर्तमानमें यह ही शंका चल रही है कि इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष हो, सम्बन्ध हो वह प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नहीं है। देखा सत्य बात तो यह ही है कि ज्ञान ही प्रमाण है। कहीं आप जाओ, कुछ भी प्रमाणमें वस्तु पेश करो, जब ज्ञान बनता है तब ठीकपनका निश्चय होता है कि हां बात सही है। जैसे आप रोकड़-खाता पेश करें, रजिस्ट्री वगैरा कागजात पेश करें तो वहाँ भी प्रमाण तब बनता है जब उनको देखकर यह ज्ञान बन जाता है कि हां बात सही है। घटना ऐसी हुई। ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, न कि रोकड़, रजिस्ट्री वगैराको प्रमाण कहते। ये तो ज्ञानके एक बाह्य साधन बन गए। उनको बांचकर, पढ़कर जाना गया। जो जाना गया, जो ज्ञान है सो प्रमाण है, किन्तु यहाँ शंकाकार क्या कहता है कि इन्द्रिय और पदार्थका जो भिड़ाव है, लगाव है सो प्रमाण है। तो ये सन्निकर्षको प्रमाण कहते।

**सन्निकर्षका अर्थ आत्माकी अर्थग्रहण योग्यता माननेपर विसंवादकी समाप्ति** अब सन्निकर्षकी समस्याके उत्तरमें यह बात समझें कि सन्निकर्षका अर्थ अगर ढंगसे हो जाये तो उसकी बात सही बन जायेगी, परन्तु वास्तविकता हो कुछ और, कहे कुछ तो विवाद होता है। देखो बहुतसे विवाद दो कारणोंसे हो रहे हैं। जो आपसमें फूट, मतभेद, सिद्धान्तके नामपर धर्मके नामपर जो मतभेद चलते हैं उनकी आधारशिला दो हैं। एक यह है कि शब्द तो है सामान्य उसके ८-१० अर्थ किए जा सकते हैं। अब कहने वाला शब्दका कुछ अर्थ समझ कर उसकी व्याख्या बता रहा, उसकी विशेषता बता रहा और सुनने वाला शब्द दूसरा अर्थ रखकर उसे सुन रहा हो, विरोध तो हो ही जायेगा। जिस अर्थके आशयसे वक्ता कह रहा उसी अर्थका आशय रखकर सुने तो विरोध नहीं। दूसरी विरोधकी बात यह है कि कहा तो जाता नयसे ना, अब जो नयसे कह रहा है कोई वक्ता और श्रोता सुन रहा है किसी दूसरे नयसे तो वहाँ विरोध हो ही जायेगा। अब रही यह बात कि सत्य है कि नहीं? तो उसका उत्तर यह है कि जिस नयसे कहे जा रहा वक्ता यदि उसके प्रतिपक्षी नयकी बात भी समझ रहा है तो उसके उस नयकी बात सत्य है। अगर प्रतिपक्ष नयकी बातमें विरोध करता है तो उसकी कही हुई बात असत्य है। देखो सत्य होकर भी असत्य है। एक नयमें जो बात समझी जाती, कही जाती है वह तो उस नयमें सत्य है, मगर एक नयके प्रतिपक्ष नयकी बातका विरोध करे, मायने प्रतिपक्ष नयको असत्य कहे तो सत्य कहकर भी असत्य बन जाता है। तो ऐसी कुछ आधारशिलायें हैं जिनपर कि परस्पर विरोध हो जाता है और वे बातें समाप्त हो जायें तो विरोधका कहीं अवकाश क्या है? यह जैनशासन विरोधके लिये उत्पन्न हुआ है क्या? अरे यह शासन तो सबको आनन्द देनेके लिए है। जिस स्याद्वादमें यह सामर्थ्य है कि जैनशासनके अन्तर्गत अनेक प्रकारकी समझदारीकी बातें कही गईं, भिन्न-भिन्न दार्शनिकोंकी बातोंका भी समन्वय कर सकते हैं और उनको एक जगह बिठला सकते हैं।

**स्याद्वादमें विद्वेषके अवसरका अभाव** स्याद्वादमें क्या कहीं विरोध और फूटाफाटीका अवकाश भी है? नहीं है। तो ये सब बातें अपनी गलतीसे होती हैं और काल पंचमकाल है तो यह तो कभी

अन्तमें जो प्रवृत्ति रूप धर्म है इसका तो निशान भी नहीं रहने का। उसीके चिन्ह चलते जा रहे। जैसे देखा कहते हैं ना कि छठे कालके अन्तमें प्रलय होगी। देखो लिखा तो है कि ७ दिन अग्निकी वर्षा होगी, ७ दिन धाराप्रवाह जलकी वर्षा होगी। आदि ७-७ दिन ७ प्रकारकी वर्षा होगी तो उसके प्रमाण तो अब ही मिल रहे। ये जो ऐटमबम, हाइड्रोजन बम वगैरा या और जो अनेक प्रकारकी विनाशकारी शक्तियां जो आज तैयारकी जा रही हैं तो वे क्यों तैयारकी जा रही हैं? अरे ये कभी न कभी तो फूटेंगे ही। जो आज अपने घरमें धरे हैं वहीं गड़बड़ हो जायेगी। यह ही तो एक अग्नि जैसी वर्षा होगी। तो प्रलयकालके रूपक आज भी देखनेको मिल रहे हैं उस छठे कालके वे दिन अवश्य आयेंगे। जबकि यह सब कुछ हो जायेगा। पर अपने लिए इतना ध्यान रखें कि हम बाहर क्या तकें?, किसे तकें? खुद दुःखी हैं, कर्म प्रेरित हैं, पर्यायमें अटके हैं, जन्म-मरण करते हैं। तो जैसे किसी जगह कई लोगोंकी दाढ़ीमें आग लग जाये तो वहाँ क्या कोई पहले किसी दूसरेकी दाढ़ी बुझाने जायेगा? अरे वह तो पहले खुदकी दाढ़ीकी आग बुझायेगा। तो ऐसे ही जब खुदमें इतनी विडम्बनायें बस रही हैं, दुःखी हो रहे हैं तो खुदका काम तो करना नहीं चाहते और व्यर्थकी बातों में, व्यर्थकी गप्पोंमें पड़कर अपना जीवन व्यर्थ गंवाते। जिस बातचीतमें कषायका अंश जगनेकी सम्भावना हो या कषायके आधारपर ही कुछ रचा गया हो तो उसे गप्प बोलिये। जितना ज्ञानस्वभावकी ओर अभिमुख रहनेका यत्न है सो तो है कृत्य और जो कषायांश जगनेकी बात है वह सब है गप्प। अब गप्पकी तो आदत पड़ी हुई है। अच्छा तो वह आदत तो मिटती नहीं। अब बुरी गप्प तो नहीं कर सकते, कुछ सज्जनता आयी है तो भली गप्प कर लो। गप्प बिना समय नहीं गुजरता कषायमें तो गप्पोंकी कषायके कारण आदत पड़ी हुई है। उन गप्पोंको छोड़ें और अपने आपका जो विशुद्ध कार्य है, जिससे कल्याण हो उस बातमें आयें। कहाँ है कल्याण इस सहज ज्ञानस्वरूपमें मग्न होने में। और दूसरी बात है ही नहीं। अब वह मिले कैसे? तो उसका उपाय बताता है अभूतार्थनय। अभूतार्थनयसे जानें ७ तत्त्व, ६ पदार्थ, परिचय बनायें, सब विधि बतायेंगे। सब कुछ गैल बतायेंगे उस तरह चलें। तो यहाँ अभूतार्थनय द्वारा ही तो यह अधिगमकी बात चल रही है। प्रमाण और नयोंसे पदार्थ ज्ञान करें। सम्यक्ज्ञानको प्रमाण कहा।

**अर्थग्रहणयोग्यत्व सन्निकर्षकी प्रमाणतामें विसंवादका अभाव** ज्ञानके बारेमें यह शंका चल रही है कि ज्ञान प्रमाण नहीं है, किन्तु सन्निकर्ष प्रमाण है। तो आचार्यदेव कहते हैं कि अगर सन्निकर्षका अर्थ यह लगावें कि आत्मामें पदार्थ जाननेकी योग्यता होना सो सन्निकर्ष है। तब तो सन्निकर्षका नाम लेकर हम प्रमाण कह देंगे कि हां सन्निकर्ष प्रमाण है। अब देखो ऐसी-ऐसी बातें, ऐसे-ऐसे शब्द जो जैनशासनमें प्रयुक्त नहीं होते और उनका अर्थ ढंगसे लगा लें तो समन्वय बन जायेगा। लो यहाँ सन्निकर्ष प्रमाण हो गया। पदार्थोंके ग्रहणकी योग्यताका नाम अगर सन्निकर्ष है तो वह है चेतनात्मक और उस सन्निकर्ष प्रमाण माननेके लिए कौन मना करता है? हां है सन्निकर्ष प्रमाण। भीतर जो ज्ञान चल रहा है, ज्ञान जगनेकी जो योग्यता है वह ज्ञान हुआ, वह ही प्रमाण है। और

देखो जो भाववाचक शब्द होते ना, उनके तीन-तीन तरहके अर्थ होते हैं। जैसे 'ज्ञान' यह भाववाचक शब्द है, तो तीन तरहसे अर्थ हैं। जो जाने सो ज्ञान। जिसके द्वारा जाना जाये सो ज्ञान। जो जानना सो ज्ञान। एक कर्तव्यकी मुख्यतामें रहा, एक करणत्वकी मुख्यतामें रहा और एक भाव-प्रधान रहा। तो प्रमाणके भी तीन अर्थ कर लीजिए प्ररिणति इति प्रमाणं, प्रमीयते अनेन इति प्रमाणं, प्रकर्षेण मानं इति प्रमाणं। तो अब कर्तव्यके रूप में देखें अर्थ को, जाननेकी योग्यतासे परिणत आत्मा ही तो पदार्थको जानता है तो वह प्रमाण कहलाया। यह प्रभु यह ज्ञान, यह ही प्रमाण है। कौन है हमारा देव? ज्ञानदेवता। भगवानमें भी क्या हम तकते हैं? ज्ञानदेवता, अपनेको भी क्या तकें? ज्ञानदेवता। अपना जो ज्ञानस्वभाव है उसको निरखें।

**ज्ञानधनरूपमें आत्मस्वरूपकी समझ होनेपर सर्वविवादोंकी समाप्ति** देखो जब यह समझमें आ जावे कि मैं तो ज्ञानधन हूं, ज्ञान ही मेरा धन है, अन्य कुछ मेरा धन नहीं है, तो देखो कितनी विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं? काहेका झगड़ा? काहेका विवाद? कलह-विवाद सब अज्ञानमें ही जकड़ा हुआ है। देखो स्त्रीके वाचक तीन शब्द हैं भार्या, दारा और कलत्र। अब इनके अर्थ क्या हैं सो देखो भार्या मायने जो गृहभारको बड़ी होशियारीसे संभाले, घरका पूरा बोझ संभाले, और कलत्र मायने जो शरीरकी रक्षा करे सो कलत्र। स्त्री न हो तो यह पति भी भूखों मरे और पुत्र भी। सबके शरीरकी यह रक्षा करती है। तो कल मायने शरीर, उसकी जो रक्षा करे सो कलत्र और दाराका क्या अर्थ है दारयति भ्रातृन् भेदयति या सा दारा। जो भाई-भाईमें लड़ाई करा दे, कलह करा दे उसे कहते हैं दारा। देखो लोग इसे गालीमें ले लें, कहते हैं ना गालीमें 'दारी' मगर उसका अर्थ क्या है? दाराका अर्थ है कि जो भाई भाईको लड़ा-भिड़ाकर अलग करा दे। उनमें आपसमें पटती नहीं ना? भाई-भाई न्यारे न होना चाहें तो भी न्यारा करवा देती हैं। तो हम यह बतला रहे हैं कि अगर यों स्वरूप जान जायें सब कि मैं जो ज्ञानधन हूं, मेरा तो ज्ञान ही सर्वस्व है और कुछ नहीं है तो क्यों लड़ाई हो? ऐसी जानकारी करिये तो सब लड़ाई खत्म। जब अपने ज्ञानकी सुध नहीं रहती और बाहरी पदार्थोंको ही हम अपना धन समझते हैं तो वहाँ लड़ाई चलती है।

**ज्ञानका महत्व समझ लेनेमें वास्तविक सम्पन्नताका अभ्युदय** ज्ञान ही अपना एक स्वरूप है। उस हीकी बात चल रही है। यह ज्ञान प्रमाण है, अन्य कुछ प्रमाण नहीं। देखो यही एक बात काममें आयेगी। सबसे बड़ी कीमतकी चीज है ज्ञान। धनकी कीमत नहीं। यह बात दिलमें खूब बैठा लो। अच्छा है, नहीं तो पंथ न मिलेगा। मरण भी बहुत होंगे, जन्म भी बहुत होंगे, संसारमें रुलना पड़ेगा। कीमती चीज, अमूल्य चीज तो ज्ञान है। धनका मूल्य नहीं, धन कीमती नहीं। वह तो बाहरी वस्तु है। आया तो जायेगा, कहीं जाओ। उससे मेरेको क्या मिलता? विकल्प और उठते हैं और जितना गृहस्थीमें जरूरत है उतना तो स्वयमेव मिलता ही है। जहाँ इतना पुण्योदय है कि जैनशासन पाया है, उत्तम कुल पाया है वहाँ टोटा कुछ भी नहीं पड़ने का। अगर तृष्णा चित्त में है तो उसको निरन्तर हैरानी रहती है। इसलिए कीमत समझो ज्ञान की। मेरेको ज्ञान जगे, उसके लिए तन भी जाये, मन

भी जाये, धन भी जाये, प्राण भी जाये, वचन भी जाये, सब कुछ न्यौछावर हो और अपनेको ज्ञान मिले तो समझो कि हमें सब कुछ मिल गया। अपना ज्ञान कलंकित हो, रागद्वेष कषायादिकसे मलिन हो और चाहे राजपाट भी मिले तो भी विडम्बना है, विपत्ति है। सुख धनसे नहीं होता। सुख तो अपने ज्ञानसे होता है, विवेक से, बुद्धिसे सुख होता है।

**प्रमाता और प्रमाणसे कथंचित् भेद-अभेद समझनेकी पद्धतिमें प्रमाणत्वकी शंकाओंका निरसम** ज्ञानके प्रमाणके सम्बन्धमें चर्चा चल रही है। जो जाने सो ज्ञान, जो प्रमाणे सो प्रमाण। प्रमाण यह आत्मा ही है। तो जो लोग कहते हैं कि सन्निकर्ष प्रमाण है उनको भी स्याद्वादी मना नहीं करते। मगर सन्निकर्षका अर्थ यह जानें कि पदार्थको जाननेकी योग्यतासे प्रवृत्त जीव जानता है। इसको कहते हैं सन्निकर्ष। इस प्रसंगको सुनकर शंकाकार घबरा गया। ये तो हमारी सारी बातें उलट दे रहे, सो शंकाकार कहता है कि देखो तुम्हारे मंतव्यसे यह जाहिर हो रहा है कि तुम एक हीको दो बार कह रहे हो प्रमाता और प्रमाण। मायने जो जानता सो प्रमाण। जानता कौन? आत्मा। वह ही प्रमाण। तो प्रमाण क्या रहा वह तो प्रमाता रह गया। वह तो आत्मात्मक हो गया प्रमाण। प्रमाण तो कुछ न रहा। तो समाधानमें कहते हैं कि देखो प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इन चारमें सर्वथा भेद नहीं है। कथंचित् भेद है, कथंचित् अभेद है। जानने वाला और जिसके द्वारा जाना गया, जिसको जाना और जो जानना हुआ, ये चारों बातें अलग नहीं हैं। एक हीकी बातें हैं। इसलिए यह कोई दोष नहीं है कि प्रमाण नहीं रहा और मात्र प्रमाता ही रहा। प्रमाता और प्रमाणका कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। जिन दार्शनिकोंने ज्ञाता और ज्ञानको बिल्कुल जुदा-जुदा माना है, देखो जिसकी बात कर रहे जानता कौन? आत्मा, और जिसके द्वारा जाना गया उसका नाम ज्ञान। तो ज्ञान और ज्ञाता इन दोकी बात कह रहे। जो जानता है सो ज्ञाता और जिसके द्वारा जानता है तो ज्ञान। ये दो बातें अलग-अलग हैं क्या? हैं तो एक रूप और उसकी मुद्रासे बनाये गए हैं भेद, पर कोई दार्शनिक कहता है कि ये तो बिल्कुल ऐसे जुदे हैं जैसे कि ये दो खम्भा खड़े हैं। इनका परस्पर क्या मतलब? बिल्कुल जुदे-जुदे हैं, ऐसे ही ज्ञान अलग है और ज्ञाता अलग है। बिल्कुल न्यारी-न्यारी दो बातें हैं, ऐसी शंकाकार अपनी बात रख रहा है। तो देखो इसमें कितना बड़ा दोष है? सत्यताके विरुद्ध कोई कहे तो वह निभ नहीं पाता। अब मान रहे ये लोग कि ज्ञान तो बिल्कुल अलग चीज है और ज्ञाता बिल्कुल अलग है। तो देखो जैसे जिस ज्ञानके द्वारा मुझ ज्ञाताको जानूं वह ज्ञान शंकाकारकी दृष्टिमें हमसे अलग है ना और ऐसे ही दुनियामें जो अनेक मनुष्य हैं, जीव हैं उनसे भी अलग हैं। तो यह ज्ञान तो सबके लिए एक समान रहा ना? हमसे भी अलग है और अन्य सब जीवोंसे भी अलग है वह ज्ञान। तो जब यह ज्ञान सबके लिए एक समान निराला है तो इस ज्ञानके द्वारा हमको ही ज्ञान होता है, दुनिया भरको नहीं होता, इसका क्या कारण है? क्योंकि उस पदार्थ विषयक ज्ञान मेरेसे बिल्कुल अलग पड़ा है और उस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं तो ऐसे अलग पड़े हुए ज्ञानके द्वारा जैसे हम जान जाते हैं ऐसे ही अलग पड़े हुए इस ज्ञानके द्वारा सारी दुनिया जान जाये। क्यों नहीं जानता?

जान जाना चाहिए। तो ज्ञानको ज्ञाता आत्मासे बिल्कुल अलग माननेमें कोई व्यवस्था नहीं बनती। इससे ही समझना चाहिए कि ज्ञाता ज्ञान निराले-निराले तत्त्व नहीं हैं। जो ज्ञान है सो ही मैं हूँ। जो मैं हूँ सो ही ज्ञान है।

**ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके अनुभवका प्रभाव** देखो स्वानुभवके लिए तो ज्ञान मात्रका अनुभव करना बहुत ही सहायक है। कोई कहे कि हमें अपना ज्ञान नहीं है, मेरेको आत्माका ज्ञान नहीं है, तो जरा आत्माका ज्ञान तो करा दो। देखो आत्माका ज्ञान अभी बतायेंगे, थोड़ा एक बीचमें दृष्टान्त ले लो। एक राजा और मंत्री थे, तो मंत्री आत्माकी बात बहुत करता था और राजाको सुहाये नहीं, उसकी समझमें न आये। तो एक दिन राजा घोड़ेपर चढ़कर कहीं जा रहा था और रास्तेमें मंत्रीका घर मिला तो वहाँ राजा मंत्रीसे कहने लगा कि मंत्रीजी, मुझे आत्माकी बात समझा दो। तो मंत्री बोला महाराज! आप घोड़ेसे नीचे उतरिये, एक आध घन्टा आरामसे हमारे पास बैठिये तो हम तुम्हें आत्माकी बात सुनावें। तो राजा बोला अरे हमें इतनी फुरसत कहाँ, हमें तो कोई ५-७ मिनट में ही सुना दीजिए। तो मंत्री बोला महाराज, यदि हमारा अपराध माफ हो तो हम ५-७ मिनटकी बात क्या, कोई पांच सेकण्डमें ही समझा दें? हां-हां माफ है, समझा दो। तो मंत्रीने राजाके हाथसे कोड़ा छीन लिया और दो-चार कोड़े राजाके जमा दिये। राजा बोला अरे-रे-रे भगवान! तो मंत्री बोला देखो भगवान तो तुम मान ही गए, कह ही रहे भगवान और जिससे अरे-रे-रे है वह है आत्मा। तो देखो भाई इस तरहसे अगर आत्माकी बात समझना चाहो तो यों समझ लो और सीधे-सीधे समझना चाहो तो वैसे समझ लो। हां जब आप अपनेमें ऐसा ध्यान लगायें कि मैं ज्ञान ही ज्ञान हूँ, ज्ञान-ज्ञान, ज्ञानका स्वरूप क्या? जानना। जाननेमें क्या हुआ करता? ऐसा प्रतिसास। बहुत गहरे घुसते जायें, ज्ञानकी बात सोचते जायें और अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवते जायें। जब ज्ञानका विशुद्ध स्वरूप आपके ज्ञानमें होगा तो अनुभव जग जायेगा। तो अपनेको ज्ञानमात्र इस तरहकी प्रतीतिमें लगायें तो यह होगा अपने सम्यग्ज्ञानका बहुत सरल उपायसे एक प्रयोग।

**अचेतन होनेके कारण इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्षमें प्रमाणत्वकी असंभवता** ज्ञान ही प्रमाण है, यह विषय चल रहा है, अज्ञान प्रमाण नहीं है। इन्द्रियाँ हैं अज्ञान, वह प्रमाण नहीं हो सकता और इन्द्रियका सन्निकर्ष भी है अचेतन, सो यह भी प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रसंगमें सन्निकर्षवादीने अपना यह मंतव्य रखा था कि इन्द्रियका और पदार्थका सम्बन्ध हुआ तब ही ज्ञान होता है। होते हैं ना कूपमंडूप, जो कुर्वेमें मेढक होते हैं उनको क्या ज्ञान रहता है कि सारी दुनिया इतनी ही है जितना कि कुवां, उसके बाहर भी क्या है कुछ, सो परिचय नहीं रहता। एक बार हंस कहींसे उड़कर आया, कुवांकी बाटपर बैठ गया, तो नीचेसे एक मेढक पूछता है कि तुम कौन हो? तो वह बोला हंस।...कहाँ रहते? मानसरोवर में...वह मानसरोवर कितना बड़ा है...बहुत बड़ा। तो मेढकने एक पैर फैलाकर कहा अजी इतना बड़ा?...अरे इससे भी बड़ा। दूसरा पैर फैलाकर कहा क्या इतना बड़ा?...अरे इससे भी बड़ा। तीसरा पैर फैलाकर कहा तो क्या इतना बड़ा?...अरे इससे भी

बड़ा, चौथा पैर फैलाकर कहा तो क्या इतना बड़ा?...अरे इससे भी बड़ा। अब एक किनारेसे दूसरे किनारे तक उछलकर कहता है तो क्या इतना बड़ा? अरे इससे भी बहुत बड़ा। तो वह मेढ़क झुंझलाकर बोला अरे तुम बिल्कुल झूठ कहते हो। इससे बड़ी तो दुनिया है ही नहीं। तो जो लोगोंको ज्ञान चल रहा है मतिज्ञान श्रुतज्ञान वही एक दृष्टिमें है शंकाकारके और जब कुछ गहरी चर्चा आयेगी तो यह बतलावेंगे। जो बड़े-बड़े ऋषि संत जन हैं, योगी जन हैं, उनको कैसे ज्ञान हो गया? प्रत्यक्ष ज्ञान है ना, तो कहेंगे कि योगज धर्मसे अनुग्रहीत हैं, उनकी इन्द्रियाँ, सो इन्द्रियका सन्निकर्ष होता है। अब यह कवायत ही तो दिमागकी चल रही है। इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष प्रमाण है, ऐसा कहने वाले लोग यदि सन्निकर्षका अर्थ इतना मानें कि पदार्थका ग्रहण करनेकी योग्यतासे प्रवृत्त होकर आत्मा उन पदार्थोंके जाननेके प्रति अभिमुख होता है तब तो ठीक है सन्निकर्ष प्रमाण है। जहाँ चैतन्यका कुछ नाम ही न ले और मात्र इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष कहा तो प्रमाण नहीं।

**प्रमाण और प्रमातामें कथंचित् तादात्म्य होनेसे स्वयंके ज्ञान द्वारा स्वयंको ही जानकारी होनेकी सिद्धि** प्रमाण और प्रमातामें कथंचित् तादात्म्य है, भेद नहीं है, और प्रमाता चेतन है, सो प्रमाण भी चेतनात्मक ही होता। यदि प्रमाता प्रमाणमें भेद मानोगे कि जानने वाला आत्मा दूसरा पदार्थ है और जिस ज्ञानके द्वारा जाना जाता है वह दूसरा पदार्थ है। तो तो हमने जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह तो हमसे न्यारा हुआ ना? तो जैसे हमसे न्यारा है वह ज्ञान, ऐसे ही दुनिया भरके सब जीवोंसे भी न्यारा है। उस ज्ञानसे हम ही जान पायें और दुनिया भर न जाने यह भेद क्यों? फिर तो सबको उस एक ज्ञानसे जानना चाहिए। इससे समझो कि प्रमाण ज्ञान इस आत्मासे जुदी चीज नहीं है। आत्मासे ही ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है, अन्यथा यह बात नहीं बन सकती कि इस ज्ञानके द्वारा हमको ही ज्ञान हो और दूसरेको न हो। इसपर शंकाकार कहता है कि बात ऐसी है कि वह प्रमाण वह ज्ञान है तो आत्मासे जुदी चीज, मगर उस प्रमाणका सम्बन्ध जिस आत्मामें हो वह आत्मा जान पाता है उस ज्ञान से, दूसरे आत्मा नहीं जान पाते। देखो ध्यान देकर सुनो, आगेकी बात भी समझमें आयेगी। बात कही जा रही है खुद की, निज की। जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं उस ज्ञानको नैयायिक भिन्न कहते हैं। तो ज्ञान जुदा पदार्थ है और जानने वाला मैं आत्मा जुदा पदार्थ हूँ। देखो किसी भी मनुष्यको मूढ़ नहीं कहा जा सकता। सबकी अपनी-अपनी दृष्टियाँ हैं, उनसे बोलते हैं। देखो ज्ञान और आत्मा अगर जुदे न हों तो वे दो नाम क्यों लेते? एक ही नाम क्यों नहीं लेते? और फिर उनमें कारक भेद क्यों लगाते कि आत्माने ज्ञानके द्वारा जाना। तो कहाँ कारक भेद है? अच्छा है? अच्छा लक्षणभेद भी है। ज्ञानका स्वरूप जानना है और आत्माका स्वरूप जानना देखना, मग्न होना, आनन्द पाना है। तो कोई बात है थोड़ी-बहुत, तब ही तो भेदकी बात कही किसी ने। अब इसे अन्य दार्शनिकोंने सर्वथा कह दिया तो इसमें दोष हो गया, कथंचित् भेद कहते तो कोई दोष नहीं है।

**अभेदनय व भेदनयका एकवस्तुमें अविरोध** स्याद्वादकी झाँकी है गणेशकी मूर्ति। गणेश चौथके दिन गणेशकी मूर्ति बनते देखा होगा? क्या रूपक बनता कि आदमी है और ऊपर सूंड बैठी है, और

नीचे चूहा है, उसका वाहन बताया गया चूहा। भला कोई ऐसा आदमी था क्या कि जो सूंड लगी पैदा हुआ हो या पीछे लगायी गई हो, और चूहापर बैठकर जाता हो। जंचता तो नहीं ऐसा, मगर भाव देखो अलंकार है उस स्याद्वादकी झाँकी है। कैसे? स्याद्वादमें देखिये दो नय होते हैं (१) अभेदनय और (२) भेदनय। अभेदनयका काम है एकमेक करना, अखण्ड बनना और भेदनयका काम है उसके भेद करना, भिन्न-भिन्न बात विश्लेषण करना अर्थात् देखो यह सूंड और यह धड़ इसका जो एकमेक बन गया है, यह दुनियाको अभेदनका प्रतीक बनाता है। अभेदनय ऐसा अभेद करता है कि जैसे धड़ और सूँडमें एकपना हो गया, अलंकार ही तो है, और वाहन जो चूहा है वह भेदनयका प्रतीक। जैसे चूहा किसी कागज या कपड़ेकी दूकानमें घुस जाये और वहाँ अपनी फैक्टरी चालू कर दे तो देखो वह कितने छोटे-छोटे टुकड़े कर डालता है, और ऐसे छोटे टुकड़े कर देगा कि जितने छोटे टुकड़े आप नहीं कर सकते। तो वह चूहा भेदनयका प्रतीक है। भेद करे तो इस तरह कर और अभेद बने तो इस तरह बने। बस यह एक दर्शनिकी मुद्रा भर है और संभव है कि किसी समय अलंकारों द्वारा ही सब कुछ समझाया जाता होगा। फिर लोग अलंकारकी बातको भूल गए और देवताकी बात आ गई। मनुष्योंको जो चीज ज्यादा उपकारी होती है उनकी आदत है कि वे उसमें देवताकी कल्पना कर डालते हैं और कालान्तरमें मूल तथ्य भूल जाते हैं। बहुत-से लोग तो अन्नको भी देवता मानते हैं, अरे अन्नको इधर-उधर न बहावो...अन्नको देवता क्यों कहा कि अन्न बड़ी उपकारी चीज है। ऐसे ही कुछ उपकार देख लेनेके आधारपर किसीके पीपल देवता हो गया, किसीके अग्नि देवता हो गया, अग्नि कैसी उपकारिणी कि इसके बिना किसीका काम न चलता था तो इसका इतना आभार माना कि इसे देवताका रूप दे दिया। कोई दो मनुष्य जा रहे थे एक तो रूढ़ि श्रद्धासे देवताको मानता था, दूसरा था प्रकट विरोधी। पहिलेने जाकर पीपलको नमस्कार किया और दूसरा आदमी था इसका विरोधी, सो उसने पीपलके पत्ते तोड़ डाले। खैर, वह पहिला दिल मसोसकर रह गया कि देखो इसने हमारे देवताका अपमान किया। आगे जाकर एक करौंचका पेड़ मिला। सो पहिलेने उस दूसरेको पाठ सिखानेके लिये नमस्कार किया, वहाँ भी उस विरोधी पुरुषने करौंचकी डालियोंको तोड़-ताड़ डाला। अब तो उस पुरुषके सारे शरीरमें खुजली आ गई, अपने शरीरको खुजाता हुआ वह कह रहा था अरे इसका दूसरा देवता तो बहुत ही कठिन निकला। तो लोगोंकी ऐसी आदत है कि जहाँ कुछ अपना स्वार्थ सधे, बात अधिक निभे उसमें अपने देवताकी कल्पना करते हैं। यहाँ भेदनय-अभेदनयकी बात कह रहे हैं। जानने वाला यह ही ज्ञाता और जिस समझके द्वारा जानता है याने ज्ञान, वह है प्रमाण। तो ज्ञान और आत्मामें भेद नहीं है, तब तो यह बात बन जाती है कि जो पुरुष अपने ज्ञानके द्वारा जाने तो उसीको ही ज्ञान होता, दूसरेको नहीं होता। आप अपने अभिन्न ज्ञान द्वारा जानें तो आपको ही ज्ञान होगा, दूसरेको न होगा।

**प्रमाणसे प्रमाताका सम्बंध बनाकर एक ज्ञान द्वारा सब जीवोंको ज्ञान न हो सकनेका नियंत्रण करनेकी शंकाकारकी योजना** वे अच्छा, मीमांसक नैयायिक वैशेषिक बतायें तो सही कि जो ज्ञानको

आत्मासे जुदा मानते हैं, जुदा पड़ा हुआ जो ज्ञान है उसके द्वारा यह ही जीव जानता है, सारे जीव क्यों नहीं जान जाते? जैसे मेरे लिए जुदा है वैसे सबके लिए जुदा है। तो वह उत्तर यह देता है कि ज्ञानका जिस आत्माके साथ सम्बन्ध है वही आत्मा जानता है। उस ज्ञानके द्वारा दूसरा नहीं जानता। तो अब देखो ऐसी तर्कणा कर सकते ना, कि जब ज्ञान जुदी चीज है, अलग पड़ा हुआ है पृथक् द्रव्य है तो उस ज्ञानका हममें ही सम्बन्ध क्यों बना औरसे क्यों नहीं बना? इन खम्भा चटाई आदिक अजीव पदार्थोंसे भी क्यों? सम्बन्ध क्यों बनाया? जब भिन्न है तो वह तो सबसे भिन्न है, सबके लिए एकसमान है, वह मुझ आत्मामें ही सम्बन्ध बनाये, ऐसा क्यों? सबसे क्यों सम्बन्ध नहीं बनाया? तो इसके लिए वे यह कहते हैं कि भाई ज्ञानका आत्मासे सम्बन्ध है याने प्रमाणका प्रमातासे सम्बन्ध है। ज्ञानका इस जीवके साथ समवाय सम्बन्ध है, इस कारणसे इस ज्ञानके द्वारा हम ही जानते हैं, इस ज्ञानके द्वारा दुनिया नहीं जान सकती। उनके ज्ञानसे वे जानेंगे। देखो सब दिमागकी कसरत चल रही है। सीधा मान लें तादात्म्य सम्बन्ध तो झगड़ा मिटे। जो कभी अलग नहीं हो सकता, न जो कभी पहले अलग था, ऐसी दो चीजोंका जो सम्बन्ध है उसे कहते हैं वे सम्बन्धसे यह नियोग है। अब बताओ जो कभी अलग था नहीं, जो कभी अलग हो सकेगा नहीं, उसे कहते हैं तादात्म्य। तो तादात्म्य क्यों नहीं कहते? सम्बन्धकी कल्पना क्यों करते? यों कहते ये तादात्म्य तकको भी सम्बन्ध कि इनके भेद करनेका नशा चढ़ा हुआ है। जरा-सी बात देखी और भेद कर डाला, तब ही तो वे कहते हैं कि द्रव्य स्वतंत्र सत् है, गुण स्वतंत्र सत् है, क्रिया स्वतंत्र सत् है, समवाय स्वतंत्र सत् है, सामान्य स्वतंत्र सत् है, विशेष स्वतंत्र सत् है, यह भेदका नशा चढ़ा है ना। प्रमाणको छोड़ दिया, इसलिए उनकी दृष्टिमें समझमें आयी कुछ अलग-सी बात तो झट समझ जाते हैं कि स्वतंत्र सत् है। इसी आधारपर वैशेषिकवादकी उत्पत्ति हुई है। तो वे शंकाकार कह रहे हैं कि जिस ज्ञान का, प्रमाण का, जिस प्रमातामें समवाय सम्बन्ध हुआ उस ज्ञानके द्वारा वही जानता। तो अब इस बात विचार करो इसमें कितनी आपत्तियाँ आती हैं? सो सुनो, और इस विषयको सुननेसे पहले सम्बन्धके नाम सुनो।

**विशेषवादसम्मत सम्बन्धोंका विवरण** दुनियामें सम्बन्ध कितनी तरहके माने हैं, शंकाकारने देखो इनकी दृष्टिमें पदार्थ ६ माने गए हैं द्रव्य, गुण, पर्याय (क्रिया) सामान्य, विशेष और समवाय। पदार्थके मायने ये बिल्कुल अलग-अलग हैं, स्वतंत्र हैं। किसीका किसीसे कुछ मतलब नहीं। ऐसे ये ६ पदार्थ माने, पर जैनशासन यह कहता है कि वे ६ नहीं हैं। वह तो सब एक पदार्थ हैं। उस एक पदार्थमें जब शाश्वत शक्तियोंको देखा तो गुण नजर आये, जब समय-समयकी परिणति देखा तो पर्याय नजर आयी। जब साधारण गुण देखा तो सामान्य नजर आया। जब असाधारण गुण देखा तो विशेष नजर आया। परंतु इतनी नजर होनेके आधारपर शंकाकारने ५ स्वतंत्र पदार्थ मान डाले। अब आफत यह पड़ गई कि जब ये सब अलग-अलग स्वतंत्र पदार्थ हैं तो इसका कारण क्या है कि यह गुण इसी द्रव्यमें जुड़ा, अन्यमें क्यों नहीं जुड़ गया? यह पर्याय इसी द्रव्यमें आयी औरमें क्यों



नहीं पहुंच गई? यह सामान्य इन पदार्थोंमें आया, औरोंमें क्यों नहीं गया? यह विशेष इसीमें रहा अन्यमें क्यों नहीं जुड़ा? अब यह आपत्ति आ गयी सामने तो इस आपत्तिसे निपटारा पानेके लिए समवाय सम्बन्ध मानना पड़ा, तो यह तो है समवाय सम्बन्ध। द्रव्यमें गुणका सम्बन्ध, द्रव्यमें पर्यायिका सम्बन्ध, सामान्य विशेषका सम्बन्ध, यह तो समवाय है, मगर द्रव्य तो बहुत हैं ना। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, नैयायिक सिद्धान्तके अनुसार आत्मा, दिशा, मन आदिक बहुत-से द्रव्य हैं, तो इन द्रव्योंमें अगर द्रव्य-द्रव्यका सम्बन्ध हो तो उसका नाम धरा गया संयोग सम्बंध। सम्बंधका ब्यौरा बतला रहे। जैसे चौकीपर पुस्तक रखी तो चौकी और पुस्तकके सम्बन्धका नाम क्या है? संयोग सम्बन्ध। अच्छा अब आगे चलो, एक ही द्रव्यमें गुणका जो सम्बन्ध है वह है समवाय सम्बन्ध। नैयायिक सिद्धान्तके अनुसार सब बातें चल रहीं, क्योंकि द्रव्यसे गुण न्यारे नहीं किए जा सकते। यह कहलाया समवाय सम्बन्ध। जैसे द्रव्यमें रूप है, रूपगुण है। पुद्गलमें रूप गुण है ना तो पुद्गलका रूप गुणके साथ जो सम्बन्ध हो उसका नाम है समवाय और एक पुद्गल दूसरे पुद्गलका रूप गुणके साथ जो सम्बन्ध हो उसका नाम है समवाय और पुद्गलका दूसरे पुद्गलके साथ सम्बन्ध बने तो उसका नाम धरा संयोग तो पुद्गल अणुका जो रूपके साथ सम्बन्ध है उसका नाम हुआ समवाय और रूपमें रूपत्व है तो रूपमें रूपत्वका जो सम्बन्ध है, जैसे मनुष्यमें मनुष्यपन, ऐसे ही रूपमें रूपत्व। इनका जो सम्बन्ध है इसका नाम क्या? समवाय। और पुद्गलमें रूपत्व है तो यहाँ हुआ समवेतसमवाय सम्बंध। पुद्गलमें रूपका सम्बन्ध समवाय, पुद्गलमें रूपत्वका सम्बन्ध समवेत समवाय मायने समवेत रूपके साथ रूपत्वका समवाय है। तो कितना सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है? बड़ी हैरानी गति अपनेको कर रखी है एक स्याद्वादका सहारा छोड़ने से। जीवमें ज्ञानके सम्बन्धका नाम क्या धरा? समवाय। और जैसे जीवमें ज्ञान है ऐसे ही शरीरको देखकर भी तो कहते कि शरीरमें ज्ञान है। तो शरीरका और ज्ञानका जो सम्बन्ध है उसका नाम है संयुक्त समवाय अथवा स्वाश्रयसमवाय कैसे कि शरीरका और जीवका तो है संयोग सो यह तो बन गया संयुक्त और जीवमें है ज्ञानका समवाय तो शरीरमें ज्ञानका जो सम्बन्ध है उसका नाम है संयुक्त समवाय। और ज्ञानमें जो ज्ञानपना है, ज्ञानमें ज्ञानत्व, तो ज्ञानमें ज्ञानत्वका तो है समवाय और जीवमें ज्ञानत्वका है समवेत समवाय और शरीरका ज्ञानत्वके साथ है संयुक्त समवेत समवाय।

**पांच ससम्पर्क सम्बन्धोंके अतिरिक्त विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्धकी आख्या करके शंकाकारके पुराने प्रस्तावकी रिपीट** देखो दार्शनिक विषय जैन सिद्धान्तमें तो यों समझ लो, समझनेके लिए ही चलता है। किस तरह जीवको ज्ञान उत्पन्न हो? यहाँ पाण्डित्य दिखानेका प्रयोजन नहीं है, यह तो भलाईका रास्ता निकालनेका प्रयोजन है, पर कुछ दार्शनिकोंमें पाण्डित्यका प्रयोजन अधिक रहता है। यहाँ दार्शनिक बात कह रहे हैं, मजहबकी बात नहीं। तो जब देखेंगे तो कहा जायेगा कि थोड़ी बात और उसकी रचना बनायी जायेगी इतनी कठिन कि बहुत कुछ सुननेके बाद जरा सा समझें। तो देखो ऐसे भी व्याख्यान होते कि नहीं कि कोई आधा घंटा व्याख्यान हो जाये और बात कुछ न निकले

कि इसने क्या कहा? यह भी एक भाषणकी कला होती है। और कोई पुरुष कहीं एक आध मिनट ही बोले और कामकी ठीक बात थोड़े शब्दोंमें रख देता है तो ये ५ प्रकारके तो सम्बन्ध हैं और छठे प्रकारका सम्बन्ध क्या विशेषण विशेष्य भाव? जैसे छतरी वालेका लक्षण छतरी या अभिन्न विशेषण विशेष्य ले लो। फलाने पुरुषका लक्षण छंगा। ६ अंगुलियाँ होनेके कारण उसका नाम छंगा पड़ गया। तो विशेषण विशेष्यके साथ जो सम्बन्ध है वह एक सम्बन्ध है, ये ६ प्रकारके सम्बन्ध माने गए हैं। उनमेंसे जीवमें ज्ञानका समवाय सम्बन्ध है। यह बात कह रहे हैं। जहाँ ज्ञानका सम्बन्ध है वही जीव उस ज्ञानके द्वारा जानेगा, दूसरा न जानेगा। ऐसी बात शंकाकारने रखी।

अब उक्त शंकाका उत्तर देते हैं देखो ध्यान न देंगे तब तो बड़ी कठिन बात लगेगी और यदि यह ध्यान आ जाये कि हमारी बात चल रही है, हमारे ज्ञानकी बात बतायी जा रही है कि मेरा ज्ञान कैसे होता, कैसे जानता, किस रूपमें होता है, यह अपने ठीक ज्ञानकी बात कही जा रही है। इस आस्थामें सुनोगे तो सरल हो जावेगी। अभी किसीके लड़केकी बात कहने लगे कोई तो सुननेमें तो वह बड़ी दिलचस्पी लेते हैं, जब कि लड़का एक जुदी चीज है। एक कल्पनामें ही तो मना है कि यह मेरा है तो उसकी बात कोई कहे तो लोग बड़ा दिल लगाकर उसे सुनते हैं। और जो वास्तवमें खास हमारी चीज है ज्ञान। जिसे छोड़कर हम कभी रह नहीं सकते। मरण हो जायेगा तो भी ज्ञान साथ लेकर जायेंगे। यहाँ बैठे तो ज्ञान साथ है। तुम कहीं जावो, ज्ञान एक ऐसा साथी है कि वह छिन भरको भी अलग नहीं हो सकता। आप यहाँ बैठे हैं तो आपके यहाँ न धन-दौलत पास है, न मकान पास है, न भाई-भतीजे पास हैं और ज्ञान देखो तो आपके पास है। कहीं चले जाओ तो ऐसी जो आपकी निजकी चीज है ज्ञान, उसकी बातें करें और उसमें दिल न लगे तो बताओ कुछ अच्छी बात है क्या? जो भिन्न चीज है, कल्पनाकी बात है उसे मान रखा है अपना, उसकी बात कहो तो बड़ा दिल लगता। तो यह अपनी बात है, ध्यानसे सुनो, ज्ञानकी बात कह रहे कि ज्ञान प्रमाण है और यह ज्ञान मेरे आत्मासे जुदा नहीं है, इतनी ही तो बात कही जा रही है, मगर शंकाकार बीचमें ऐसी टांग अड़ा रहा है कि ज्ञान बिल्कुल अलग है, जीव अलग है, तो उसे समझा रहे कि अगर ज्ञान ऐसा अलग हो तो उस ज्ञानके द्वारा हम ही जानें, दूसरे न जानें, यह कैसे होगा? तो उत्तरमें कहा कि उस ज्ञानका प्रमाणका प्रमाताके साथ सम्बन्ध है इसलिए उस ज्ञानके द्वारा हम ही जानते हैं। अच्छा तो देखो जैसे ज्ञानका हमारे जीवके साथ सम्बन्ध है, ऐसे ही ज्ञानका हमारे शरीरके साथ भी सम्बन्ध है, कैसे? ज्ञानका जीवके साथ तो है समवाय सम्बन्ध और जीवका शरीरके साथ है संयोग सम्बन्ध। सो ज्ञानका शरीरके साथ संयुक्त समवायका सम्बन्ध हो गया। फिर उस ज्ञानके द्वारा शरीर क्यों नहीं जानने लगता, फिर उस ज्ञानके द्वारा यह देह भी धर्मकी आराधनामें लगे। तो कथंचित् जीवसे तादात्म्य माने बिना समस्याका हल न हो सकेगा।

ज्ञान का, प्रमाणका प्रमाता और फलके साथ सम्बन्ध बताकर ज्ञान द्वारा एक ही प्रमाताको अधिगम होनेके नियन्त्रणकी शंकाकारकी असफल योजना अब शंकाकार कहता है कि देखो इस

जीवके साथ ज्ञानका सम्बन्ध भी है और फलका भी सम्बन्ध है और जिस प्रमाताके साथ प्रमाणका और फलका सम्बन्ध हो वह आत्मा जान सकेगा ज्ञानके द्वारा, देखो कुछ विशेषता क्या कर दी? पहले आत्माके ही साथ सम्बन्ध जोड़कर अपनी बात रखता था शंकाकार, अब आत्मा और फल दोके साथ इस ज्ञानका सम्बन्ध रखा है, सो जिस जीवके साथ ज्ञानका और फलका सम्बन्ध हो वह ही जानेगा, दूसरा न जानेगा। देखो यह भी बात आपके पूरी समझमें आ गई, ध्यानसे सुनो शंकाकार यह कहता है कि ज्ञान तो अलग पड़ा, जीव अलग पड़ा, फिर जो यह आपत्ति दी कि ज्ञान अलग पड़ा तो उससे हम ही क्यों जानें? तो एक उत्तर यह दिया कि चूंकि उस ज्ञानके साथ मेरे आत्माका सम्बन्ध है इसलिए हम जानते हैं, तो इसमें दोष दिया तो यों तो शरीरका भी सम्बन्ध है तो इस दोषको दूर करनेके लिए कहते कि मुझ जीवका इस ज्ञानके साथ सम्बन्ध है, और ज्ञानका फल जो जानना है वह जानना भी हममें हो रहा तो उस जाननेसे भी सम्बन्ध है, तो हमारा ज्ञानसे संबन्ध है, फलसे सम्बन्ध है तब ही हम ही जानते, दूसरे नहीं जानते। तो इसका भी जवाब वही है कि ऐसा सम्बन्ध शरीरसे भी है दोनों का। शरीरका ज्ञान तो संयुक्त समवाय सम्बन्ध है और उस फलका उस जाननेका भी इस शरीरके साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध है। इस कारणसे वही आपत्ति सामने खड़ी है कि अगर ज्ञान जुदी चीज है तो उस ज्ञानके द्वारा यह जीव ही क्यों जानता? शरीर भी जाने, दूसरे जीव भी जानें और सारे पदार्थ जिन्दा हो बैठें, सब जानकार बन जायें फिर तो कोई पुद्गल चीज ही नहीं कहलायी। तो इससे यह समझना कि भाई ज्ञान ही प्रमाण है और वह ज्ञान मेरा निजी स्वरूप है। मेरी ये परिणतियाँ चलती हैं। तो इस निज स्वरूपकी परिणतिके द्वारा हम ज्ञान कर रहे हैं, ऐसा हमारा स्वरूप है। तो इतनी बात समझ लो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञान ही प्रमाण है, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं, ज्ञान ही फल है। ज्ञानके सिवाय मेरी और कोई दुनिया नहीं है। मैं ज्ञान ज्ञान मात्र हूं।

**ज्ञानके प्रमाणत्वके प्रसंगमें प्राप्त समस्या व समाधानके विषयका स्मरण** ज्ञान ही प्रमाण है, इतनी-सी बात सिद्ध करनेमें बड़ी-बड़ी बाधायें आ रही हैं। एक दार्शनिकने स्पष्ट यह ऐलान कर दिया था कि ज्ञान बिल्कुल अलग पदार्थ है और आत्मा बिल्कुल अलग पदार्थ है और कैसे? उनका मूल सिद्धांत है कि द्रव्य स्वतंत्र सत् है और गुण स्वतंत्र सत् है। ज्ञान गुण ही तो है। जैनशासनमें तो गुणसे तादात्म्य है। वे स्वतन्त्र सत् मान लेते हैं भिन्न पदार्थ। स्वतन्त्र सत्के मायने हैं जैसे कि जिसमें ६ साधारण गुण हों, प्रदेश भी न्यारा, आकार न्यारा, परिणमन न्यारा, उसकी बात ही अलग है, ऐसे उन्होंने ६ स्वतन्त्र सत् माने हैं द्रव्य, गुण, पर्याय, सामान्य, विशेष और समवाय। तो उसी आधारपर विशेषवादी कह रहे हैं कि ज्ञान गुण तो स्वतंत्र पदार्थ है और यह आत्मा प्रमाता स्वतंत्र पदार्थ है। और वह ज्ञान तभी तो अचेतन है। मुख्य बात तो यह चल रही है कि ज्ञान अचेतन है, अचेतन प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण है। इस विषयको लेकर बात चल रही थी। तो चलते-चलते ज्ञानका विक्र आया, तो यहाँ यह बात रखी जा रही है कि ज्ञान अलग चीज है और इस ज्ञानका जिस

प्रमाताके साथ, जिस आत्माके साथ और ज्ञानके फलका उसी आत्माके साथ सम्बन्ध हुआ, बस उस ज्ञानके द्वारा वह आत्मा जानता है। तो ऐसा यह ज्ञानस्वरूप प्रमाण और अधिगम, फल याने प्रमिति, इन दोनोंके साथ आत्माका सम्बन्ध बताकर कोशिशकी जा रही है कि इस कारणसे एक ज्ञानसे वही आत्मा जान पाता है, अन्यको उस ज्ञानसे ज्ञान होनेका प्रसंग नहीं होता। किन्तु यह व्यर्थ परिश्रम है। सीधा तादात्म्य मान लें कि आत्मा है और क्रिया करता है, वह अपनी पर्याय बदलता है, उसकी पर्याय जाननरूप होती है। देखें दो बातोंका कोई निवारण नहीं कर सकता स्वभाव और पर्याय। उसमें भेददृष्टि करें तो कारण भी निकल आयेगा, सम्प्रदान भी निकल जायेगा, अपादान भी निकल आयेगा, षट्कारक निकल आयेगा। तो वह अभेदमें ही षट्कारक बना है और उस ही प्रकारसे परिणमन होता है और ज्ञान होता है। यदि ऐसा न मानो तो अपने शरीरके साथ और अन्य आत्माओंके साथ ज्ञानका सम्बंध बन बैठे, और फलका सम्बंध बन बैठे। उसका कौन निवारण कर सकता है? इससे मान लो कि यहाँ प्रमाताका प्रमाणके साथ अत्यन्त भेद नहीं है। आत्माकी ज्ञानसे भिन्नता नहीं है, और जो प्रमिति है याने अपना और पदार्थोंका निर्णय करना यह जो अधिगम है यह इस आत्मासे जुदी वस्तु नहीं है। इस तरहसे यह बात भली प्रकार बता दी है कि प्रमाण भाव साधन भी है याने जानना सो प्रमाण।

**गुण रूप से, पर्याय रूप से, सामान्य रूपसे व विशेष रूपसे सामान्यविशेषात्मक पदार्थके ही ज्ञानकी संभवता** अब देखो यद्यपि है पदार्थ एक ही, गुण, पर्याय, सामान्य विशेष ये जुदे-जुदे पदार्थ नहीं हैं, ये कोई सत् नहीं हैं। सत् तो यहाँ एक ही है आत्मा, फिर भी पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे इसमें भेद करनेपर गुण भी समझमें आये, पर्याय भी समझमें आया, सामान्य समझमें आया, विशेष समझमें आया। तो देखो समझमें आया तब भी अलग गुण नहीं, अलग पर्याय नहीं, अलग सामान्य नहीं, अलग विशेष नहीं। केवल गुण ही हो सत् ऐसा है नहीं, केवल पर्याय ही हो सत् सो नहीं, केवल सामान्य ही हो सत् सो नहीं, केवल विशेष ही हो सत् सो नहीं। जाननेमें भी ये निराश्रित चार चीजें आती नहीं, तब क्या जाननेमें आता? सामान्य विशेषात्मक पदार्थ। देखो यह मूल बात न भूलना “सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः।” परीक्षामुखका सूत्र है कि ज्ञानका विषय, प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक पदार्थ है। जानी गयी वही वस्तु। अब वस्तु सामान्यमुखेन जानी जाये तो हम कहते हैं कि सामान्यका ज्ञान। हुआ है सामान्यमुखेन सामान्य विशेषात्मक वस्तुका बोध। जब विशेषमुखेन वस्तुका बोध हो तब कहते हैं कि विशेषका ज्ञान किया। होता है वहाँ विशेषमुखेन सामान्य विशेषात्मक वस्तुका बोध। इसी तरह जब गुणमुखेन पदार्थका बोध हो तो कहते हैं कि हमने गुणका ज्ञान किया। होता है वहाँ गुणमुखेन सामान्य विशेषात्मक वस्तुका बोध। जब पर्यायमुखेन जानते हैं तो कहते हैं कि हमने पर्यायका ज्ञान किया। होता है वहाँ क्या? पर्यायमुखेन सामान्य विशेषात्मक वस्तुका ज्ञान। अब देखो जो मुख्य रहा, जिस अभिमुखता से, जिन दृष्टियोंमें तो ही बना प्रधान, इसलिए सामान्य विशेषात्मक वस्तुका ध्यान नहीं किया जा रहा। और कहा जा रहा है कि

हमने तो पर्यायको जाना। हमने तो गुणको जाना, हमने तो विशेषको जाना, हमने तो सामान्यको जाना, पर ये चार स्वतंत्र अवस्तु हैं, इन्हें कोई जान ही नहीं सकता। जाना जाता है तो सत् जाना जाता है। अर्थ जाना जाता है। जो कि साधारण, असाधारण गुणसे सहित पदार्थ है वह जाना जाता है। बस उसको जिसकी अभिमुखतासे जाना उसका ज्ञान कहलाता है। जैसे कोई फल खाया, रसका ज्ञान हुआ तो बताओ रसका ज्ञान हुआ क्या? रसमुखेन उस वस्तुका ज्ञान हुआ, वास्तविकता यह है और इस वास्तविकताको मोक्षशास्त्रने भी एक “अर्थस्य” सूत्र कहकर स्पष्ट कर दिया और दार्शनिक शास्त्र तो कहते ही हैं। और युक्ति और अनुभवसे भी यह आप परख सकते हैं। अगर स्वतंत्र सत् हो गुणपर्याय सामान्य और विशेष, चारकी ही बात चल रही है। वैशेषिक मत वाले इन चारोंको और द्रव्यको इन ५को स्वतंत्र सत् मानते हैं, यदि ऐसा हो तब आपत्ति यह आती है कि जब स्वतंत्र सत् हैं तो यह व्यवस्था कैसे बने कि ज्ञान आत्मामें ही होता है। हम कहते हैं कि ज्ञान चौकीमें होता है। अरे जब स्वतंत्र सत् हैं, अलग-अलग पदार्थ हैं तो उनका यह सम्बन्ध कैसे बना कि यह ज्ञान जीवका ही है, यह ज्ञान खम्बेका नहीं, यह आपत्ति आती है। यह पर्याय इस पदार्थकी ही है, यह पर्याय इसकी नहीं है। यह विपत्ति आयी कैसे बता सके? जब भिन्न-भिन्न हैं तो उनको मानना पड़ा एक समवाय सम्बन्ध। तो ऐसे ५ पदार्थ वहाँ स्वतंत्र माने गए हैं और उसमें इस विज्ञानको रख रहे हैं कि ये सब अलग-अलग चीजें हैं। सुना है ऐसा हमने देखा तो नहीं, कि कोई एक मणिवाला सांप होता है जिसके फणमें मणि रहती है। तो उस मणिको वह सामने रख लेता है, खुश होता है, नाचता है, देखता है, और फिर जब अपनी तबियत भर लेता है तो उसको वह फिर अपने फणमें ले लेता है। देखिये यह बात सही है या गलत इसका हमें पता नहींपर एक दृष्टान्त दे रहे हैं। ऐसे ही विशेषवादी चल रहे हैं कि इस ज्ञान गुणको अलग करके धर दें, समझ लें और अब बात कर रहे, नाच रहे और फिर जब कोई आपत्ति आयेगी तो झट उस ज्ञानको अपने पेटमें धर लेंगे। सम्बन्ध बता देंगे कि समवाय सम्बन्ध है। तो वास्तविकता यह है कि द्रव्य तो एक है। किसी एक आत्माको ले लो, बस एक ही है। उसकी ये विशेषतायें हैं कि ज्ञान गुण है, ज्ञानकी परिणति है। तो ऐसा जो एक ज्ञान है अभिन्न बस वह प्रमाण है।

**प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमितिमें कथंचित् भेदरूपता व अभेदरूपताका विलास** अच्छा अब थोड़ा इस प्रसंगमें स्याद्वादका विलास देखो, चार चीज आर्यां सामने ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञप्ति। ज्ञाता मायने जानने वाला। जिसके द्वारा जाना जा रहा है वह साधन है ज्ञान, जो जाना जा रहा है वह ज्ञेय पदार्थ और जो जानना चल रहा है सो ज्ञप्ति, ये चार बातें हैं। ये चारों ऐसे अभेद हैं कि देखो ज्ञाता तो जानने वाला बन रहा और जब ज्ञाताको ही जानने चले तो ज्ञाता ज्ञेय बन गया याने एक ही घरमें चारों ऐसे हेल-मेलसे हैं, ऐसी अपनी बदल करते रहते हैं कि जैसे कोई चार लड़के बड़े मित्र हों, छोटे-छोटे और वे दौड़ते-खेलते हैं तो गद्-गद् एक-के-ऊपर-एक गिरते हैं, ऐसे ही यहाँ देखो कि जो अभी प्रमाता बना है वही प्रमेय बन जाता है। जानने वालेको जब हम जानने चलते हैं तो

यह ज्ञेय बन गया न। तो प्रमाता ज्ञाता जानने वाला जब अपनेको जानता है। उस समय वह स्वयं प्रमेय बन जाता है। तो इसी तरह यह जानने वाला जब जाननेकी क्रियामें व्याप्त है तो बुद्धिपूर्वक स्वयं प्रत्यक्ष होकर भी वह प्रमाण हो जाता है। और वही जाननेका रूप है, तो यह ही प्रमाता प्रमिति बन जाता है। तो एकान्तसे इनमें भेद मत डालो। भेद दृष्टिसे भेद है और अभेद दृष्टिसे अभेद है। जैसे देखो क्षणिकवादियोंने और नैयायिकोंने एक चित्रज्ञान माना है। चित्रज्ञान होता ही है याने ज्ञानमें दुनिया भरकी चीजें प्रतिबिम्बित हो रही हैं। तो अनेक बातें ज्ञानमें चलेंगी, इसको बोलते हैं चित्र, नाना, विचित्र, विविध और देखो सब कुछ एक चित्र सा ही तो उमड़ गया है। ज्ञानमें जब समस्त पदार्थ ज्ञेय बन रहे तो ज्ञानमें वह चित्रकी ही तो झलक है सब। तो जब चित्रकी ओर दृष्टि देते हैं तो ज्ञान नाना रूप नजर आता है और जब एक मूल ज्ञानपर दृष्टि देते हैं तो ज्ञान एक नजर आता है। तो जैसे मेचक ज्ञान एकरूप भी है, अनेकरूप भी है। जैसे बताया ना कि आत्मा मेचक है और चूँकि सब एक ही हैं, द्रव्य हैं, वह आत्मा अमेचक है। यहाँ ज्ञानकी बात कह रहे हैं कि यह ज्ञान चित्र-विचित्र हो रहा है, अपने एक आत्मा में, तो उस दृष्टि तो यह मेचक है और चूँकि ज्ञान एक है सो अमेचक है। मोटा दृष्टान्त लो। ८ चीजोंको कूटकर एक दवा बना दी चूर्ण करके, बताओ वह एक है कि ८ है? एक दृष्टिसे देखें तो ८ है और एक दृष्टिसे देखें तो एक है। अच्छा उन दोमें अलग-अलग तो एक-एक काम करता है बताओ वह काम चूर्ण कर सकता है क्या? नहीं कर सकता। जैसे सोंठ, मिर्च, पीपल, हर, बहेड़ा, आंवला, अकरकरा व तोमरके बीज इन ८ चीजोंका चूर्ण बनाया जाये तो काम सोंठ कर सकती है वह चूर्ण नहीं कर सकता, जो काम हर कर सकती है वह चूर्ण नहीं कर सकता और जो काम चूर्ण कर देगा वह काम वे चीजें अलग-अलग होकर नहीं कर सकतीं। देखो एक भी है, अनेक भी है तथा देखनेके प्रभाव भी जुदे-जुदे हैं। ऐसे ही यह ज्ञान एक भी है अनेक भी है। एक ज्ञानकी बात कह रहे हैं। ज्ञानमें चूँकि सारा जगत प्रतिबिम्बित हो रहा तो यहाँ उतने ज्ञान हो रहे जितना ज्ञेय सत् है। मगर ज्ञान उतने कहाँ हैं? ज्ञान तो वह एक है। तो जैसे चित्रज्ञानमें एकरूपता और अनेकरूपता दोनोंका विरोध नहीं है, इसी प्रकार इस आत्मामें प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इन चाररूपता और एकरूपता विरोध नहीं है। भेददृष्टिसे चार रूप हैं। अभेद दृष्टिसे एक ही रूप है।

**तत्त्वाधिगमविस्तारकी अपारता** यहाँ तक क्या बात आयी? पुनः स्मरण करना। सूत्रजीमें पहले अध्यायमें पदार्थोंके जाननेके उपायका वर्णन है। देखो तत्त्वोंके जाननेके उपायोंके वर्णनमें ही एक वर्ष लग जायेगा और जब जानने चलेंगे तत्त्वोंको तो इसमें न जाने कितने वर्ष लगेंगे? तब ही तो कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धिके देव ३३ सागर तक तत्त्वचर्चा, धर्मचर्चामें ही रत रहा करते हैं। देखो सर्वार्थसिद्धि ऊर्ध्वलोकमें समझदार संसारी जीवोंकी सबसे ऊँची जगह है, उससे आगे कोई नहीं। फिर तो आगे एक मोक्षस्थान है। रह गए तो एक निगोदिया, तो उनका सब जगह अधिकार है। वे तो जहाँ सिद्ध बस रहे वहाँ भी रह रहे। तो देखो बहुत अच्छेका सब जगह गुजारा चलता है या बहुत बुरोंका सब

जगह गुजारा चलता है। निगोदियोंको कोई रोकने वाला नहीं। जहाँ सिद्ध भगवानकी आत्माके प्रदेश हैं वहाँ भी वे निगोदिया जीव अपना काम कर रहे हैं। और देखो पापका उदय कि भक्तजन तो भगवानके दर्शनोंको तरसते हैं और वे निगोदिया जीव सिद्ध भगवानके आत्म प्रदेशोंमें बैठे हैं और वे वहाँ दुःखी हैं। सिद्धक्षेत्रमें निगोदिया जीवोंके रहनेसे कहीं उनका दुःख कम न हो जायेगा? देखो कितनी स्वतंत्रताकी बात है? वे तो एक श्वासमें आठ-दस बार जन्म-मरण करना, बस उनकी यह फैक्टरी चल रही है। और सिद्ध भगवान अनन्त आनन्दका काम कर रहे। तो उससे कुछ बहुत नीचे एक समझदार जीवोंकी दुनिया है सर्वार्थसिद्धि। वे देव एक हाथीकी अवगाहनाके होते हैं। जैसे यहाँ एक-एक हाथके छोटे बालक होते हैं, और मानो ऐसी ही शक्लके हों, पर यहाँके बालकोंमें तो नाक, थूक, खकार आदि गंदी चीजें भरी हैं, वहाँ उनका वैक्रियक शरीर है, यहाँ बालकोंमें अज्ञानता है वहाँ बहुत ऊँचा ज्ञान है। देखो द्वादशांगका ज्ञान इन्द्रके भी बताया, सर्वार्थसिद्धिके देवोंके भी बताया, मगर केवली श्रुतकेवली नहीं बताया। देखिये कुछ बात रह जाती है जो कि निर्ग्रन्थ अवस्थामें ही होती है। जो मार्गकी बात मिलती है वह भी निर्ग्रन्थ अवस्थामें ही रहती है। एक तो ज्ञान है और दूसरे उसका प्रयोग है, इन दोनोंमें फर्क है। तो इस तत्त्वचर्चामें सर्वार्थसिद्धिके देवोंका ३३ सागरका समय गुजर जाता है।

**संयमकी विशेषतासे मनुष्य जीवनकी उत्कृष्टता** सर्वार्थसिद्धिके देव चर्चा यह भी करते होंगे कि देवपर्याय कुछ कामकी नहीं। चौथे गुणस्थानसे ऊपरकी परिणति बन सकती नहीं। एक मनुष्यपर्याय ही है, ऐसी कि जहाँ संयम धारण किया जा सकता है। देवगतिसे भी अधिक विशेषता मनुष्यगतिमें क्यों है? संयमके कारण संयमरहित ज्ञान और श्रद्धान, इन दो बातोंमें देव तो मनुष्योंके बराबर हैं और मनुष्योंसे बढ़कर भी हैं, मगर मनुष्य विशेष खास ठीक है तो एक संयमके कारण। तो जिस संयमके कारण हम आप लोगोंकी सर्वार्थसिद्धिसे भी अधिक विशेषता मानी जाती है, उस संयमका चित्तमें आदर न हो, उस संयमकी चटापटी न हो, उस संयमको घृणाकी दृष्टिसे देखें तो बताओ मनुष्य काहेको हुए? देव बने रहते, नारकी बने रहते, घोड़ा, बैल वगैरा बन रहे याने सम्यग्दर्शनकी बातें तो घोड़ा, बैल वगैरामें भी हो सकती हैं, देवोंमें भी हो सकती हैं, नारकियोंमें भी हो सकती हैं, और इतनेके ही लाने अपने जीवनकी मर्यादा बना रखी है, इससे आगे कुछ सोचना ही नहीं है, और इससे आगेकी बातको घृणाकी दृष्टिसे देखना है तो भला बतलाओ मनुष्य होनेसे लाभ क्या पाया? देखो यह बड़ी जिम्मेदारीका भव है। स्वच्छन्द मनमानी करनेसे कहीं प्रकृति तो प्रसन्न न हो जायेगी। यहाँ तो जिस-जिसका जो बनना है। जिस विधानकी बात जो है सो ही होगी, अन्य प्रकार न होगी। तो देखी सम्यक्त्वका उद्यम करें और संयम यथाशक्ति धारण करें। तो देखो ज्ञान नहीं भी हो पाया, सम्यक्त्व नहीं हो पाया, फिर भी आप मंदकषायमें रहेंगे तो अगले भवमें सम्यक्त्व मिल जायेगा, वहाँ काम बन जायेगा। और सम्यक्त्व हो गया, और फिर संयम साथ है तब तो उसको मोक्षका मार्ग मिल गया। चलना विशेष रह गया है। देखो दो बातें हैं एक देखा जाना और एक चलना। देखा जाना

हुआ इसका सम्यक्त्व और चलना हुआ संयम। मोक्ष मार्गमें चले ना, मोक्ष मार्ग दिख गया, मोक्ष मार्गका प्रकाश हो गया, मोक्ष मार्गकी शुरूआत आ गयी, अब चलनेकी भी बात आने दो। चलनेकी ओरसे उदासीन मत बनें। जितना बने, जो शक्ति है उस माफिक चले और मंदकषाय रहें।

**जीवोंमें चैतन्य महाप्रभुकी याद कर उनसे घृणा न करनेमें आत्मरक्षा** देखो सबसे बड़ी भारी बात यह है कि सब जीवोंमें मैत्री भाव बनाओ, मनुष्योंसे ही नहीं, तिर्यचोंसे भी, पशु-पक्षियोंसे भी। देखो रास्ता चलते हुएमें यहाँ (भिन्ड में) पशु सूअर तो काफी मिलते हैं ना, तो उनको देखकर लोग छिः-छिः करते हैं, नाक-भों सिकोड़ते हैं। अरे उनसे क्या घृणा करना? वे भी एक जीव हैं, आज इस पर्यायमें आ गए हैं। अब जरा विवेक रखें, समता रखें, उनसे बचकर निकल जायें, उनसे घृणा न करें। उनसे घृणा करना यह तो एक भीतरके अज्ञानकी सूचना है। अभी रास्तेमें कोई भंगी-भंगिन मिल जाते हैं तो उनसे लोग घृणा कर बैठते, छिः-छिः हट-हटके अपशब्द उनसे बोल देते हैं। भला बताओ, क्या उनके दिलमें चोट नहीं लगती होगी? शायद वे यही सोच लेते होंगे कि तुम हमें चाहे समझ पाओ या न समझ पाओपर हम तो तुम्हें समझ गए।...अरे क्या भंगी-भंगिन भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते? अगर हो सकते तो फिर उनसे क्या घृणा करना? नहीं भी हों ज्ञानी तो भी अन्तः तो चैतन्य महाप्रभु है ही। तो सबसे प्रेमका व्यवहार करो। देखो जिसको यह परिचय हो गया है कि सर्व जीवोंमें परमात्मस्वरूप है वह किसी जीवके प्रति अदयाका भाव न रखेगा और क्रूरताका बर्ताव न करेगा। परिस्थिति है ऐसी सो करना पड़ता है, बोलना पड़ता है, मगर उसका व्यवहार क्रूरताका नहीं होगा। देखो अभी अपने जीवनमें कितनी ही बातोंकी कमी है। पहली कमी तो यह है कि प्रेमसे बोलना और नम्रतासे रहना, इसका पाठ ही अभी नहीं सीखा है। इसकी बहुत बड़ी कमी है। वे अपने जीवनका उद्धार क्या कर सकेंगे? इससे भाई जो बाहरी बातें हैं, धन है, वैभव है, मकान है, गहना है, पक्ष है, पार्टी है इनका मूल्य मत समझें। मूल्य समझें अपनी आत्मरक्षा का।

**सर्व जीवोंमें सहजसिद्धपरमात्मतत्त्वके निहारनेकी कलाका उपकार** निहारो सब जीवोंमें अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत प्रकाशमान सहजपरमात्मतत्त्व। अच्छा और फिर इतनी खराबी क्यों हो गई है? भाई कर्म उपाधिका सम्बन्ध है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है। देखो निमित्तनैमित्तिक योगकी बात सही समझ लें तो आत्माकी प्रशंसा कर पायेंगे। और ऐसा कहें कि कर्म कुछ नहीं, जीवकी योग्यता है तो सूअर बन गया, जीवमें योग्यता है तो निगोद बन गया। इसमें सभी जीवोंके प्रति एक शुद्ध तत्त्वकी निगाह नहीं बन पाती है। और देखो अब भी इतनी पर्याय बन रही हैं सूअरों की, जीवों की। इतना होनेपर भी ये सब परमात्मतत्त्व तो अपने स्वभावमें वैसे ही प्रकाशमान हैं, और यह सब कर्मोंका नाच है, कर्मका खेल है। हां ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि इसने ज्ञान विकल्प बसा लिया है। देखो कैसी स्थिति हो रही है इस प्रभु की? तो मूल बात एक यह सीख लें कि किसी भी जीवको देखें, देख करके एक बार तो उसके अन्तरकी यह बात मनमें लावें कि यह भी सहज परमात्मस्वरूप है, हल्का नहीं है, तुच्छ नहीं है, दुष्ट नहीं है। यह भी सहजपरमात्मतत्त्व है। और फिर जो बीत रही



बात वह सब कर्मका नाच है। उसमें अनादि निमित्तनैमित्तिक योग ऐसा है कि इस तरह यह चल रहा है। ऐसा आत्मतत्त्वको जाननेके लिए ही समस्त शास्त्रोंकी रचना होती है और कुछ प्रयोजन नहीं। आत्माको जानो आत्माको मानो और आत्मामें मग्न हो जावो, केवल इसके लिए सर्वशास्त्र पुराण हैं। सब तरकीबों से, सर्व उपायों से, सर्व नयोंसे इस चैतन्यस्वरूपकी सुध करायी गई है। तब आगममें जो-जो बात कही है, जो-जो उपाय बताये जा रहे हैं, प्रमाण, नय, निश्चय, व्यवहार, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदिक ये सब आचार्य संतोंने परम करुणा करके सत्य शान्तिका मार्ग दिखानेके लिये कहे हैं, उसमें अपनी बुद्धि लगायें और उस समस्त आगमकी श्रद्धा करें। आगमका एक-एक अक्षर प्रमाण है, और समस्त आगमका प्रयोजन ही इतना है। तब ही तो समयसारमें लिखा है कि जो आत्माको अबद्ध अस्पृष्ट, अनन्य नियत, असंयुक्त अनुभव कर लेता है वह समस्त जैनशासनको समझ लेता है, क्योंकि जैनशासनमें जो-जो कुछ भी उपाय बताया है, समझाया है उन सबका प्रयोजन है यह कि सहज शुद्ध परमात्मतत्त्वका दर्शन हो।

**इन्द्रियार्थसंयोगरूप सन्निकर्षको प्रमाण माननेमें आपत्तिका दिग्दर्शन** इस प्रसंगमें किस बातका निर्णय किया जा रहा है, उसको एक नजरमें फिरसे ग्रहण करिये। ज्ञान प्रमाण है, यह प्रकरण चल रहा था। उस समय अनेक दार्शनिकोंने अपनी-अपनी बात रखी। एक दार्शनिकने तो यह बात रखी कि इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, पर अचेतन इन्द्रियको प्रमाण कैसे कोई मान सकता है? तो वहाँसे चलकर अब वह कहने लगे कि इन्द्रियका और पदार्थका जो सम्बन्ध होता है, सन्निकर्ष होता है यह प्रमाण है। तो इसी विषयमें चर्चा चल रही है कि देखो इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष अगर प्रमाण मानते तो यहाँ बहुत बड़ी विडम्बनायें आती हैं। कैसे सम्बन्ध होते हैं ६ प्रकारके? संयोगसम्बन्ध जैसे दो द्रव्योंका सम्बन्ध बनाना, शरीरका और जीव का सम्बन्ध बनाना, यह संयोगसम्बन्ध है। समवायसम्बन्ध जीवोंमें गुणोंका सम्बन्ध बनाना यह समवायसम्बन्ध है। ये सब बातें बतलायी जा रही हैं अन्य दर्शनकी ओर से। संयुक्तसमवायसम्बन्ध जैसे शरीरका ज्ञानके साथ सम्बन्ध है, शरीरका संयोग है जीवसे और जीवका समवाय है ज्ञानसे तो शरीरमें और ज्ञानमें संयुक्त समवाय सम्बन्ध है। अब संयुक्त समवेत समवायसम्बन्ध देखिये जैसे शरीरका ज्ञानत्वसे सम्बन्ध देखें कि शरीरका संयोग जीव से? जीवमें समवाय है ज्ञान का, ज्ञानमें समवाय है ज्ञानत्व भाव का। तो शरीरका समनत्वसे कौन-सा सम्बन्ध बना? संयुक्त समवेतसमवाय। समवेतसमाय जीवमें ज्ञानका समवाय ज्ञानमें ज्ञानत्वका समवाय है तो जीवका ज्ञानत्वके साथ समवेतसमवाय सम्बन्ध है। इन सम्बन्धोंके अलावा और भी अनेक सम्बन्ध होते हैं। जैसे विशेषणविशेष्य सम्बन्ध। तो सभी कारके सम्बन्धोंमें आपत्ति है कि यदि सन्निकर्षको प्रमाण मानते हो तो। कैसे? सो सुनो, इन्द्रियका पदार्थके साथ संयोग होनेसे ज्ञान होता है यह बात मानते हैं वैशेषिक याने नेत्र सेका सम्बन्ध बन गया, खम्भेका ज्ञान हो गया। देखो जैसे नेत्रका खम्भेसे सम्बन्ध है, वैसे ही नेत्रका आत्मासे भी सम्बन्ध है। नेत्रका आकाशसे भी सम्बन्ध है, सभी अन्य द्रव्योंसे सम्बन्ध है। उनका ज्ञान क्यों नहीं होता? इस खम्भेका ही ज्ञान क्यों?

**विशेषवादमें इन्द्रियोंकी पृथक्-पृथक् द्रव्यरूपता** देखो वैशेषिक दर्शनकी ओरसे एक और समझें आँखें बनी हैं आग से, कान बने हैं आकाश से, नाक बनी है पृथ्वी से, जीभ है जलसे और स्पर्शन बना है हवा से। ऐसा वे मानते हैं। देखो चाहे बनना थोड़ा समझ आवे मुख्यताके अंश से, इन चीजों से, मगर वे सब पुद्गल द्रव्य हैं। और एक-एकसे एक नहीं तो पुद्गल हैं, सर्वरूप हैं, आहारवर्गणायें हैं, बन गईं, पर ऐसा जो उन्होंने समझ लिया उसका कुछ अंदाजा तो होगा। आखिर वे भी मनुष्य हैं, संज्ञी जीव हैं, ज्ञान रखते हैं। जो अंदाज किया होगा तो उनका अंदाज देखो। आँखें लगती हैं ना ऐसी जैसे आँखोंसे किरणें निकलें, दीपक किरणें निकलें, कात्तिमान होता है, इस तरह कोई आँखें लगतीं कि इससे किरणें निकलती हैं, चमकती हैं और फोटो आ ही जाते हैं सबके नेत्र में। जैसे कैमरामें फोटो आती हैं, ऐसे ही आँखोंमें भी फोटो आते हैं जिन-जिन चीजोंको देखें। और कभी लोग मरे हुए आदमीकी आँखें देखते हैं जाँच करने वाले, जिसको किसीने मारा हो, कल्ल किया हो उसकी आँखें देखते हैं, ऐसा करते हैं आजकलके लोग। तो आ गई तो फोटो और बनी रहे, कुछ ऐसी बात होगी शायद। मतलब यह है कि आँखका कुछ अग्नि जैसा रूपक देखते हैं तब वहाँ यह माना। वस्तुतः तो यों नहीं है कि आँख आगसे बने, मगर आँखमें आग जैसी कुछ समता-सी लगी तो मान लिया उन्हेंने। अच्छा, और नाम बनी पृथ्वी से। पृथ्वीका लक्षण माना है वैशेषिक नैयायिक जनोंने गंधवती पृथ्वी, जिसमें गंध हो वह है पृथ्वी। जिसमें रस हो वह है पानी, जिसमें वर्ण हो वह है आग, है स्पर्श हो वह हो हवा और शब्द हो वह है आकाश ऐसी ५ बातें मान लेते हैं तो कुछ एक अंदाज सा लगा, बात समझमें न आयी और एकदम कुछ रूपक-सा लगा तो मान लिया। जब पहले-पहले रेलगाड़ी निकली थी कोई अन्दाजसे १०० वर्ष पहले तो जिस दिन मानो उस शहर मेंसे निकली थी तो लोगोंकी बड़ी भीड़ हुई, देखें तो सही, लोग कहते हैं कि एक इंजन रहता है वह खींचता है। तो देखकर यह अंदाज किया अनेक लोगोंने कि हो न हो इसमें काली देवी बैठी है, वह चला रही है रेलगाड़ी। तो अब जाननेकी क्या बात? कल्पनाकी क्या बात? तो जैसे आत्मद्रव्य है वैसे ही पृथ्वी भी है, जल भी है, अग्नि है, आकाश है। तो जैसे इस पृथ्वीसे नेत्रका संयोग हुआ है, ऐसे ही आकाशका आदिका संयोग हो रहा है। फिर क्या वजह है कि ये आँखें इस ही चीजको जानें और बाकी आकाश, आत्मा, दिशा, मन आदिक किसीको न जानें। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि संयोग सम्बंधके कारण ज्ञान नहीं होता और संयोग प्रमाण नहीं है, किन्तु ज्ञान प्रमाण है।

**दार्शनिक विवरणका महत्व** देखो विषय तो कठिन हैपर सुनकर इतना अंदाज कर लें कि हमारे आचार्य जन क्या-क्या रत्न भरकर धर गए और जब उनको समझते नहीं सो कुछ लोग घृणा करने लगे व कहने लगे कि यह सब गलत है, अशुद्ध है। मन में इतना तक आ गया है कि केवल निश्चयैकान्तका जिससे अर्थ निकल सके उसको रखो बाकी सब शास्त्र जला डालो, केवल एक बस निश्चय एकान्तकी बात ही सही है तो अब तो बाकी सारे शास्त्र जला देने चाहिएँ, ऐसा सोच डालते, पर वे यह नहीं पता करते कि श्रुतज्ञान प्रमाण है और श्रुतज्ञानके दोनों अंग हैं निश्चयनय और

व्यवहारनय। इनमें न निश्चय अप्रमाण है, न व्यवहार। इनमें झूठा है तो उपचार। उपचार तो मिथ्या होता है, पर कहीं-कहीं व्यवहारको ही मिथ्या लिखते हैं। ठीक है, सही है, मगर यह सोचकर कि व्यवहार है। अच्छा देखो दूध तो सबको कहते हैं गाय, बकरी, भैंस, ऊँटका और एक आकके पेड़का दूध होता है। अब कहा जाये कि दूध पीना चाहिए, और कोई मूर्ख यह सुनकर आकका दूध छटांकभर निकालकर पी ले तो यह उसकी मूर्खता है ना? विवेक करना चाहिए। दूध पीनेकी बात कहकर कौनसे दूधकी बात कही, जैसे यहाँ विवेक करना ऐसे ही यह भी विवेक करना कि व्यवहार मिथ्या है कहा, सो ठीक है, मगर विवेक करें श्रुतज्ञानका अंश रूप व्यवहार मिथ्या है कि उपचाररूप व्यवहार मिथ्या है, निर्णय करना चाहिए। उपचाररूप व्यवहार मिथ्या है और श्रुतज्ञानका अंशरूप व्यवहार मिथ्या नहीं। देखो जब किसीके गुण समझमें आते हैं तब ही चित्त उमंगमें आता है कि मैं इनके चरणोंमें लोट जाऊँ और आनन्दके अश्रुवोंसे चरण पखारूँ। तो इन आचार्य संतोंने जो रत्न भरे हैं ये कुछ समझमें आयें तो आपको यह उमंग आये कि वे अकलंकदेव, वे विद्यानन्द स्वामी, वे समंतभद्र स्वामी, वे वीरसेन आचार्य, वे जयसेनाचार्य जो-जो महर्षि हुए, इनका नाम लेकर तब उमंग उमड़ेगी ओह! तुम्हारे चरणोंमें लोट जाऊँ, तुम्हारे चरणोंकी धूल मस्तकपर लगाऊँ। अब इन रत्नोंको परखा नहीं इससे उनके प्रति उपेक्षा रखती है कि कुछ नहीं है, ये आचार्य कुछ भी नहीं जानते हैं। ये रत्न बतला रहे हैं कि बड़ी युक्ति और कसौटीसे उतरने वाला यह दार्शनिक विषय युक्तिसाध्य है। जैसे आप किसी बौद्धसे बातें करें और जैनी कहें कि ऐसा नहीं, हमारे शास्त्रोंमें लिखा है। तो वे कहेंगे कि हम नहीं मानते तुम्हारे शास्त्र, तुम उन शास्त्रोंको अपनी आलमारीमें रखो। अपने आगमकी दुहाई देकर दूसरेको समझा सकते क्या? वे तो नहीं मानेंगे, तो आपको युक्तियोंसे समझाना पड़ेगा। उन ही युक्तियोंका वर्णन दर्शनशास्त्रमें है और यह दर्शनशास्त्र इतना गहन वन है कि विद्यार्थी लोग भी जब विषय छांटने जाते हैं, संस्कृतके विद्यार्थियोंसे पूछा जाता है कि बोलो तुम कौन-सा विषय लोगे? जैसे यहाँ साइंस, कॉमर्स, संस्कृत आदिमें छांटते हैं, ऐसे ही सिद्धान्त, न्याय और साहित्यमें लोग न्यायको कम पसंद करते, साहित्यको ज्यादा पसंद करते, क्योंकि उसका विषय सरल पड़ता है तो न्यायका विषय कठिन तो पड़ता है, मगर जो दार्शनिक आनन्द लूटता है अपनेमें वस्तुके स्वरूपका युक्तियोंसे ज्ञान करके, वह एक विलक्षण आनन्द है। दर्शनशास्त्रसे निर्णय किया हुआ वस्तुस्वरूप ऐसा सामने रहता है जैसे कि दिखने वाली चीज सामने हो।

**नयोंकी समीचीनताका आधार** भाई हम यही चाहते हैं कि सब अपने-अपनेपर दया करें और सर्वविकल्प जालों को, ख्यालातों को, यहाँ-वहाँको भूलकर एक अपने वस्तुस्वरूपपर प्रमाण पद्धति से, स्याद्वाद विधिसे निर्णय करें। निर्णय करनेके बाद खुद यह ज्ञान हो जायेगा। पर्यायदृष्टिको प्रमुख बनाकर कल्याण कर पायेंगे क्या? न कर पायेंगे। तो स्वभाव दृष्टिको प्रमुख बनाकर कल्याण कर लेंगे क्या? हां-हां कर लेंगे। वह स्वभावदृष्टि उपादेय है, मगर अज्ञानी बनकर स्वभावदृष्टि बढ़े, तो ऐसा सभीने किया है अद्वैतवादियों ने, इससे बढ़कर स्वभावकी महिमा कौन बतायेगा कि जो बोलते

हैं कि ब्रह्म एक है, अपरिणामी है, उसमें तरंग ही नहीं उठते, वह तो एक चैतन्यस्वरूप हैं। इतना भी अगर कहें कि उसमें ज्ञान होता है तो वे चोट खा जायेंगे। कहेंगे कि यह बात नहीं बनती। उस चैतन्यस्वरूपमें ज्ञान भी नहीं। कैसे बढ़ें वे स्वरूपकी ओर, मगर वह स्वरूप एकान्त बन गया, क्यों बन गया कि उस स्वभावनयका जो प्रतिपक्षी नय है, पर्यायार्थिक नय है उसका उन्होंने विरोध किया। उस प्रमाणकी पहिचान यह है कि जिस नयसे बात करना हो सो करना सत्य है, असत्य कुछ नहीं है। जिन लोगोंने जो-जो कुछ बात रखी असत्य कुछ नहीं है। वे सब निश्चयकी बातें सत्य हैं, परन्तु निश्चयनका प्रतिपक्षी जो व्यवहारनय है उसका भी निर्णय जब समझमें रखे हों तो वह सत्य है। कोई कहे कि व्यवहार नयका जो विषय है ना गति वगैरा, वह सब असत्य है। कोई कहे कि व्यवहारनयका जो विषय है ना गति वगैरा, वह सब असत्य है, तो वह असत्य नहीं है, सत्य है। कब सत्य है कि जब पर्याय दृष्टिका प्रतिपक्षी नय जो निश्चयनय है, द्रव्यार्थिकनय है, स्वभावनय है, उससे जानें कि आत्मा सहज शुद्ध परमात्मतत्त्व अनादि अनंत विराजमान है। ज्ञान न हो और केवल पर्याय-पर्यायको ही रिपीट करें तो वह असत्य है। आचार्य संतोंकी हम आपपर कितनी परम करुणा रही, जिसका आभार नहीं चुका सकते। सत्य ज्ञान कराकर स्वभावदृष्टिमें निःशंक प्रवेश करनेके लिए हुक्म दिया है। जब लक्ष्यमें चलो तब अलग-बगल कुछ मत झांको। जब स्वभावदर्शन करो तो पर्यायभेद गुण ज्ञान दर्शन आदिक कुछ मत झांको। केवल एक अखण्ड निर्विकल्प स्वभावका दर्शन करो। ऐसा लक्ष्य बनानेकी पात्रता हममें कब आये जब हमने अभूतार्थनयसे ६ तत्त्वोंके पदार्थोंका स्वरूप भली-भाँति निर्णय कर लिया है, समझ लिया है, तब इस तत्त्वमें रहने वाले एकत्वकी बात हम लक्ष्यमें ले सके हैं। तो दार्शनिक विषय कठिन तो है, मगर थोड़ा यह भी समझ लें कि हम अपने जीवनमें सरल बातें सुनते तो आये, मगर जैनदर्शन युक्तिके आधारपर किस तरह तत्त्वका वर्णन किया जाता है, वह कानमें ही आ जाये। रोज-रोज सुन करके ज्ञानमें भी आयेगा, उपयोगपूर्वक सुननेसे कोई बात कठिन नहीं रहती।

**व्यवहारनयकी उपकारिता** मिलता नहीं कुन्दकुन्दाचार्यकृत षट्खण्डागम। देखो जब उन्होंने वर्णन किया होगा, दूसरी विधि ही नहीं है उसका वर्णन करने की, जैसा अन्य आचार्योंने वर्णन किया वही विषय तो बताया होगा व्यवहार में। सभी प्रतिपादन व्यवहारनयसे होते हैं, समयसारका भी प्रतिपादन व्यवहारनयसे बना तो मूल बातें दो-तीन पहले धारणामें लायें कि एक तो व्यवहारनय जहाँ मिथ्या कहा भी है वहाँ यह विवेक बनायें कि यह श्रुतज्ञानके अंशरूप व्यवहारनयका विषय है या उपचाररूप व्यवहारका विषय है। जैसे जब दूध पीनेके लिए कहा जाये कि जावो दूध पियो, तो वहाँ यह विवेक करना चाहिए कि हमको कौन-सा दूध पीनेके लिए बताया गया है? गाय, भैंस आदिका दूध बताया गया था या आक का। दूध दूध तो दोनोंका है। उपचारका भी नाम व्यवहार है और श्रुतज्ञानके अंश रूप नयका भी नाम व्यवहार है। और देखो तो जितना प्रतिपादन है वह व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे तो प्रतिपादन होता ही नहीं है। इसलिए जितने शास्त्र

हैं, जितने आगम हैं सब व्यवहारनयके आगम हैं, शुद्ध नयका आगम नहीं हैं। हो ही नहीं सकता। हां, शुद्ध नयके बारेमें कुछ संकेत भले ही होता है। शुद्ध नय तो एक लक्ष्यकी चीज है और हमारे सारे जीवनमें उपकारी श्रुतज्ञानके अंशरूप इस व्यवहारनयका ज्ञान है और इसकी ही करुणासे हम भूतार्थनयका मर्म जान पाये तो हम जिस विधिसे सहज बढ़-बढ़कर भूतार्थके विषयमें आनन्द लेनेकी योग्यता बनाते हैं। वह सबको भी यह ही बतलाये कि इस तरहसे चलो, इस ढंगसे रहो, धीरे-धीरे बढ़ो, यहाँ आना है, यह जानना है, कैसा उपकारी है। जैसे माता अपने बच्चेका पालन-पोषण करती है और उसे तैयार करके खुद मर जाती है ऐसे ही व्यवहारनय इस जीवको एक भूतार्थनयका पात्र बनाकर, भूतार्थनयको लक्ष्यमें ले ऐसी योग्यता ला देता है यह व्यवहारनय फिर खुद मर जाता है।

**तत्त्वगवेषियोंके प्रति घृणा करनेकी अनुचितता** हम यहाँ एक ज्ञान प्रकाशकी बात कर रहे हैं कि ज्ञान प्रमाण है, इस सम्बन्धमें यहाँ टोक दिया गया कि ज्ञान प्रमाण नहीं किन्तु इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष प्रमाण है, सम्बन्ध प्रमाण है। देखो घरमें अगर ४-६ पुत्र हैं और उनमें कोई पुत्र कुपूत निकल आये तो माता क्या उस कुपूतको कुवेंमें पटक देती है? अरे वह तो अपने सभी बच्चोंका एक तरहसे पालन करती है, ऐसे ही देखो जितने भी दार्शनिक हैं वे सब जैनशासनके १२वें अंगके वर्णनमें कहाँ-कहाँपर लट्टू होकर बन गए हैं? जैनशासनसे बाहर बन गएपर उनको कुछ घृणाकी दृष्टिसे न देखो, किन्तु उन्होंने कौन-सा विचार बनाया कि जिससे उनको यह मंतव्य जंचा। इसकी खोज करें और खोज करके जो शिक्षा मिले अपनेको उसे ग्रहण कर लें। और दूसरे अगर सुधर जायें तो सुधर जाने दो, मुख्य बात यह है कि अपनी संभाल करो। इस बातपर कमर मत कसो कि यह दर्शन खोटा, यह दर्शन खोटा। समझ बने सबकी और रक्षा करें अपनी। यदि यह १०-२० वर्षका जीवन यदि हमने दूसरे जीवोंपर ही दृष्टि गड़ा-गड़ाकर बिता दिया ये क्यों नहीं समझते, यह बात, ये क्यों नहीं समझते, यह तत्त्व, ये समझ जायें, ये समझ जायें और न समझें और इसके खिलाफ कहें, तो गुस्सा आये तो ऐसे जीवनसे हम अपना क्या सुधार कर लेंगे? हम तो सबसे निराले एक जैनशासनकी भक्तिमें रहने वाले हैं। मेरेको दूसरेसे कोई प्रयोजन नहीं रहा। हो रहे सब काम, मगर आशय यह बनायें कि दूसरे लोग अच्छे चलें तो हमें खुशी है, पर कोई बुरे चलें तो हमें बुरा माननेकी कुछ बात नहीं। इस संसारके अनन्तानन्त जीवोंमें अगर कुछ लोगोंपर ही दृष्टि गड़ाये रहे तो उससे अपनेको क्या लाभ मिलेगा? हैं सब जीव, अपनी सुध लें, अपनेपर करुणा करें, ऐसा गम्भीर एक अपना प्रकाश बनाकर। गम्भीर प्रकाशके मायने यह है कि जैसे माता-पिता गम्भीरसे कुपूत सुप्तमें भेद नहीं डालते, परिस्थितिवश थोड़ा व्यवहार तो हो जाता है और-और प्रकारका मगर भीतर आस्थामें तो जैसे उसके लिए एक है। इसी प्रकार सर्व मंतव्य वाले, सब प्रकारकी धारणा वाले, सब-के-सब मेरे ही तो हैं, साधर्मी जन हैं। वात्सल्य भीतरसे न बिगड़े। अगर यह वात्सल्य बिगड़ जाता है तो हम खुद अपने इस विशुद्ध ज्ञानस्वभावके अनुभवके योग्य नहीं रह सकते। अपना काम प्रमुख रखें।

**संयुक्त समवाय नामक सन्निकर्षमें प्रमाणत्वका अभाव** हां प्रकरण क्या चल रहा है जरा फिर आयें कठिन बात पर। इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष प्रमाण है, यह बात आयी वैशेषिकों की। सो एक दोष तो यह दिया कि यह बात संयोग सम्बंधमें घटित नहीं है। अब संयुक्त समवायकी बात लीजिए, ऐसे ही आँखका सम्बंध तो होता है इस खम्भे से। खम्भामें है रूपका समवाय और हम आँखोंसे रूप जो जान जाते हैं। आँखका और रूपका कौन-सा सम्बंध हुआ? यह संयुक्त समवाय। कोई आँखमें रूप तो है नहीं, इसलिए समवाय तो कह नहीं सकते और रूपका आँखसे संयोग होता नहीं। इसलिए संयोग भी नहीं। अरे संयोग है खम्भेका और खम्भामें समवाय है रूप का। तो देखो जैसे हम संयुक्त समवाय सम्बंधसे आँख द्वारा रूपको जान जाते हैं तो क्यों जी आँखका और खम्भेके रसका संयुक्त समवाय नहीं है क्या? कैसे? आँखका संयोग है खम्भेसे और खम्भेमें समवाय है रसका तो संयुक्त समवाय सम्बंधसे यदि हमने आँखसे रूपको जाना तो आँख द्वारा ही हम रसको भी जान जावें। जानते हैं क्या? नहीं जानते। यह दोष आता है, इसलिए संयुक्त समवाय भी प्रमाण नहीं है। अच्छा और देख लो नेत्रका आकाशसे संयोग है, आकाशमें शब्दका समवाय है तो नेत्रका शब्दके साथ संयुक्त समवाय हो गया। तो नेत्र शब्दको जानता है क्या? नहीं जानता। तो संयुक्त समवाय सन्निकर्ष भी प्रमाण नहीं है, यह बात कही।

**संयुक्त समवेत समवाय नामक सन्निकर्षमें प्रमाणका अभाव** यहाँ चर्चा यह चल रही है कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बंध प्रमाण नहीं होता, किन्तु ज्ञान प्रमाण होता है। इन्द्रिय और पदार्थ सम्बंध प्रमाण होता इसमें आपत्ति दी जा रही है। दो सम्बंध तो दूषित हो गए, तीसरा सम्बन्ध देख लो इसे बोलते संयुक्तसमवेत समवाय। ध्यानमें लावो जैसे खम्भामें रूप है और रूपमें रूपत्व है तो आँखका रूपत्वके साथ संयुक्त समवेत समवाय सम्बंध है, मायने आँखका संयोग है खम्भा से, खम्भेमें समवाय है रूपका और रूपमें है रूपत्वको समवाय तो आँखका रूपत्वके साथ कौन-सा नाता बना? संयुक्त समवेत समवाय। जानते तो हैं। आँखके द्वारा रूपत्व जान गये, वैशेषिक मानते हैं कि रूप जाना तो रूपत्व भी जाना नेत्र से। तो जैसे आँखोंके द्वारा रूपत्व जाना, ऐसे ही आँखसे रसत्व शब्दत्व आदिक क्यों नहीं जानते, क्योंकि इनमें भी संयुक्त समवेत समवाय है। तो यह तीसरा संयुक्त समवेत समवाय भी प्रमाण नहीं है। प्रमाण है तो ज्ञान प्रमाण है। कहीं भी देखो सर्वत्र ज्ञान प्रमाण है। बस जान गये। अगर इतनी बात रखें कि जान गए। ज्ञातासे आगे कोई व्यवहार नहीं होता तो वह आप अपनी शुद्ध क्रिया कर रहे, सही काम कर रहे। और जहाँ जाननेसे आगे बढ़े मायने रागद्वेषकी लगारमें आये बस वहींसे विपत्तियां हैं। जैसे अजायबघरमें बस देखने-देखने भरकी इजाजत है, चीज छूनेकी इजाजत नहीं है। अगर छुवोगे तो गिरफ्तार हो जावोगे, ऐसे ही दिखने वाले इन समागमोंको देखने भरकी इजाजत है, छूने की, भोगने की, राग करनेकी इजाजत नहीं है। अगर इन्हें छुवोगे तो शरीरकी गिरफ्तारीमें आ जावोगे, कर्मकी गिरफ्तारीमें आ जावोगे और ८४ लाख योनियोंमें जन्म-मरण करनेका दंड मिलेगा। इसलिए केवल जाननहार रहें, रागद्वेषादिकका

लगाव मत रखो। यह ज्ञान आत्माका धर्म है, इसका आत्मासे तादात्म्य सम्बंध है। सो ज्ञान प्रमाण है, सन्निकर्ष प्रमाण नहीं।

**कारकसाकल्यकी अप्रमाणता** 'तत् प्रमाणे' इस सूत्रमें दो पद हैं तत् प्रमाणे, अर्थ क्या है कि वह दो प्रमाणरूप है। है और निकाल दो सीधा शब्दार्थ क्या हुआ? वह दो प्रमाणरूप। इसमें सिर्फ 'तत्' इस शब्दकी ही व्याख्या चल रही है ५-६ दिनों से। 'वह' इसका अर्थ है? जैनशासनने बात रखी कि 'ज्ञान' यह अर्थ है 'वह' का। याने ज्ञान प्रमाणरूप है। तो उसमें बाधक बन रहे हैं अनेक दर्शन। किसीने कहा कारकसाकल्य प्रमाण है। कारकसाकल्य का अर्थ यह है कि जितनी चीजें चाहिएँ जाननेके लिए वे सारी चीजें इकट्ठी हों उसका नाम प्रमाण है। जैसे कुछ जानना है तो आँख भी चाहिए, पदार्थ भी चाहिए, उजेला भी चाहिए। तो ऐसी जितनी बातें जाननेमें आवश्यक होती हैं उन सब चीजोंका समुदाय मिल जाये तो वह प्रमाण है। कारकसाकल्यवादीका कहना है कि देखो आत्मा धरी रहे और उजेला न हो तो जान जाते क्या? ऐसा ये दार्शनिक अपना मंतव्य बताते हैं आत्मा ही आत्मा प्रमाण है, ज्ञान ही ज्ञान प्रमाण है। कहाँ धरा प्रमाण? एक उजेलाभर न हो तो सब धरा रहे। आँखोंके आगे कार्ड लगा दिया तो सब ज्ञान धरा रहा। तो ज्ञान प्रमाण नहीं, आत्मा प्रमाण नहीं, हों उनमें एक-एक ज्ञान भी शामिल है, एक आत्मा भी शामिल है। पदार्थ है, उजेला है, ऐसी सारी चीजें मिल जायें तो उसे प्रमाण कहते हैं, 'कहींकी ईंट कहींका रोड़ा, भानुमतीने कुनबा जोड़ा'। सब चीजें मिल जायें वह प्रमाण है। ऐसे मंतव्यका तो निराकरण खुद कर सकते हैं कि कहीं प्रकाश प्रमाण है क्या? प्रकाश तो एक अचेतन द्रव्यपर्याय है, क्या वस्तु प्रमाण है? वह तो एक चेतन पदार्थ है। कोई भी प्रमाण अचेतन नहीं हो सकता। चाहे आँख हो, चाहे शरीर हो, कोई भी पदार्थ प्रमाण नहीं होता। यों तो कितने ही प्रमाण मानने पड़ेंगे। जब कोई आप रजिस्ट्री या रुक्का पढ़ रहे हों, आपको चश्मा लगता हो तो देखो आँख प्रमाण हो गई, चश्मा, कागज, स्याही आदि प्रमाण हो गए, और वह घर भी प्रमाण हो गया जहाँ बैठकर पढ़ते हैं। पानी बरसे तो खुलेमें नहीं पढ़ सकते। तो देखो कितने प्रमाण मानने पड़े? प्रमाण तो कोई एक ही है और वह है ज्ञान। तो सभी चीजें प्रमाण नहीं होतीं। समस्त कारकोंका साकल्य याने समुदाय प्रमाण नहीं।

**इन्द्रिय और इन्द्रियसन्निकर्षकी प्रमाणताके मन्तव्यकी चर्चाका स्मरण** दूसरा दार्शनिक बोला कि हां तुम ठीक कहते हो। सर्व कारकोंका समूह प्रमाण नहीं। प्रमाण तो खाली इन्द्रिय ही इन्द्रिय हैं, क्योंकि वह जाननेमें विशेष कारण है, साधकतम है सो इन्द्रिय प्रमाण है, और इन्द्रिय बिना कोई जीव जान तो लेगा नहीं। कोई जीव होता ही नहीं इन्द्रिय बिना। लोकमें कोई जीव ऐसा न मिलेगा जिसके इन्द्रियाँ नहीं हैं। उजेला बिना भी ज्ञान हो जायेगा। बिल्लीको अंधेरी रातमें कैसे ज्ञान हो जाता, उजेला तो नहीं है। मगर इन्द्रिय बिना ज्ञान नहीं होगा, इसलिए इन्द्रिय ही प्रमाण है। इसका निराकरण पहिले काफी कर दिया गया। जिस इन्द्रियको तुम प्रमाण कहते हो वे इन्द्रियाँ भौतिक इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हो सकतीं। तो इसपर तीसरा दार्शनिक बोला कि इन्द्रिय तो प्रमाण नहीं हैं, पर

इन्द्रिय और पदार्थमें जो भिड़ाव होता है वह प्रमाण है। इन्द्रिय पदार्थसे भिड़े, और जान तो लें, बर्फको हाथसे छूते हैं, भिड़ंत हो गई तो आपको ठंड लग गई। अब बर्फ रहे और किसी बाहरी स्पर्शसे भिड़ंत न हो तो ठंडका ज्ञान कैसे हो सकता है? ऐसा सन्निकर्षको ही प्रमाण कहने वाले दार्शनिकोंके मंतव्यके बारेमें चर्चा चल रही है। सन्निकर्ष होता है ६ प्रकार से। उनमेंसे तीन सन्निकर्षका वर्णन तो कल कर दिया गया।

**समवायको प्रमाण माननेमें व्यभिचार का प्रदर्शन** अब चौथा सन्निकर्ष समवाय वाला है। उसकी चर्चा सुनिये। शंकाकारका कहना समवाय प्रमाण बनता है। देखो कर्णसे श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा शब्द सुना गया, और देखिये शब्दका आकाशमें समवाय मानते हैं वैशेषिक है, और क्या मानते हैं कि जब शब्द सुने तो जैसे एक नाम ले लिया महावीर। विशेषवादियोंका यह कहना है कि जब 'म' बोला तब ज्ञान नहीं हुआ, जब 'हां' बोला तब ज्ञान नहीं हुआ, जब 'वी' बोला तब ज्ञान नहीं हुआ और जब 'र' बोला तब ज्ञान हुआ। शब्दमें जितने शब्द हैं उनमें जो आखिरी शब्द है वह आखिरी शब्द जो समवाय है वह ज्ञान कराता है और पहले जो शब्द बोले गए वे फोकटके थे। तो भला बतलाओ कि जब समवाय प्रमाण है तो पहला शब्द जो मैं बोला क्या उसका आकाशसे समवाय नहीं है? आकाश तो व्यापक है और आकाशका गुण माना शब्द वैशेषिकोंने वह भी व्यापक है। सभी जगह भरे पड़े हैं शब्द। और देखो जब कोई पूछे कि जब शब्द सभी जगह भरे पड़े हैं तो जब मुख चलाते हैं और शब्द उत्पन्न होते हैं तो वे कैसे उत्पन्न हो गए? शब्द तो पहलेसे ही थे। तो वैशेषिकोंका उत्तर यह है कि मुखसे शब्द उत्पन्न नहीं होते, किन्तु मुखसे शब्दका ढक्कन उघड़ जाता है। जैसे घरमें बहुत चीजें रखी हों और उनपर कपड़ा ढाक दिया तो कपड़ा उघाड़नेसे क्या वे चीजें बन गईं? बनती तो नहीं, उघड़ी हैं। तो विशेषवादमें यह कहते हैं कि तालू होठ चलानेसे शब्द उघड़ते हैं, बनते हैं, अपनी-अपनी गैल सबको मालूम है और सब अपनी-अपनी गैल निकाल लेते हैं। खैर, यह विषय अलग है, पर बात यहाँ यह कही जा रही है कि यह समवाय सन्निकर्ष ज्ञानका कारण होवे तो जिस समय एक शब्द महावीर बोला तो मके समय, हाके समय, वीके समय क्यों नहीं ज्ञान होता? रके बाद क्यों ज्ञान होता? रसे ही ज्ञान क्यों होता? क्या शुरूके शब्दोंमें समवाय सम्बंध नहीं हैं, और क्यों श्रोतसे भिड़ते नहीं? जब म बोला तो उसका आकाशमें समवाय है और आकाशसे ही श्रोत निर्मित है, क्यों नहीं ज्ञान होता? तो इससे मालूम होता है कि समवाय प्रमाण नहीं है, ज्ञान प्रमाण है। जब म हा वी बोला तब तक ज्ञान नहीं बनता कि क्या बोला गया? तो पूर्व संस्कारसहित रका जो बोध हुआ उससे जान लिया गया कि बोला गया। ज्ञान प्रमाण हो गया। तो यह चौथा सन्निकर्ष भी प्रमाणभूत नहीं है, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

**समवेतसमवायमें प्रमाणत्वकी असिद्धि** अब ५वाँ देखो, ५वाँ नाम है समवेतसमवाय। समवेतसमवाय, चूँकि कान और आकाश एक ही चीज है वैशेषिकोंके यहाँ, इसलिए इसे समवेतसमवाय बोलेंगे। कान तो शब्दको जान जायें, अभी शब्दकी बात कही थी, अब शब्दत्वकी मायने शब्दपनेकी बात कह रहे



हैं। जैसे महावीर शब्द बोला तो म शब्दमें शब्दत्व है कि नहीं, हां शब्दमें शब्दत्व है कि नहीं, वी शब्दमें शब्दत्व है कि नहीं और र शब्दमें भी शब्दत्व है कि नहीं? शब्दत्व तो सबमें है, पर रमें जो शब्दत्व है उसका बोध हुआ और बाकी तीन (म हा वी)में क्यों नहीं हुआ? तो सन्निकर्ष प्रमाणभूत नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार आता है। सन्निकर्ष होते हुए भी ज्ञान नहीं हो रहा। तो कैसे कहते कि सन्निकर्ष प्रमाण है? शब्दत्वका समवाय है शब्द में, शब्दका समवाय है आकाश में। आकाश और कान एक ही चीज है, क्योंकि कान और आकाशसे बनते हैं वैशेषिक दर्शन में। यदि समवेतसमवाय प्रमाण होता तो यहाँ व्यभिचार कैसे बन गया? इससे सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

**विशेषणविशेष्य सम्बन्धादि नामक छठा सन्निकर्ष** अब छठा सम्बन्ध है विशेषणविशेष्य भाव। याने कहते-कहते जो कुछ और बच गए हों सम्बन्ध वे सब-के-सब ले लिये छठे में। जैसे दानदाताओंकी सूची लगती है ना, इनके इतने, इनके इतने और फुटकर इतने हो गए। तो ऐसे ही ५ सम्बन्ध बताये, अब छठवेंमें क्या बता दिया? फुटकर, विशेषणविशेष्य ले लिया, संयुक्त विशेषण लिया, समवेतसमवाय विशेषण लिया आदि जो-जो मुँहपर आयें सब ले लो। क्यों लिया? जब यह पूछा गया कि यह पदार्थ तो इन्द्रियके सम्बन्धसे जान लिया गया, एक मोटी बात है, मगर अभाव भी तो जाना जाता है। जैसे कहते हैं कि यहां लोटा नहीं है, यहाँ थाली नहीं रखी। अभाव भी तो जाननेमें आता। तो अभावके साथ कैसे इन्द्रियका भिड़ंत हुआ सो तो बतओ? समवायसे तो इन्द्रियकी भिड़ंत नहीं, तब समवाय कैसे जाना जायेगा? यह समस्या सामने आती है ना। जो इस बातपर उतारू हो गए कि इन्द्रिय और पदार्थका भिड़ंत होता है? जो अभाव जाना गया तो उसके लिए एक फुटकर सम्बन्ध मानना पड़ा विशेषणविशेष्य सम्बन्ध। कैसे कि देखो, कोई लड़का गया कमरेमें मानो कोई थाली उठानेके लिए और वहाँ थी नहीं तो उस कमरेको देखकर वह कहता है कि वहाँ थाली नहीं है। तुमने अच्छी तरह देखा? हां-हां अच्छी तरह देखा। क्या? थाली नहीं, यह देखा। तो इस अभावका कैसे सम्बन्ध बना? कुछ गैल निकाली जा रही है सो सुनो। थालीका अभाव है कमरेका विशेषण। जैसे कमरेमें थाली नहीं है तो यह कमरा कैसा है? थालीके अभाव वाला कमरा है। बन गया विशेषण। जैसे कहते हैं कि कपड़ा कैसा है? साफ है। तो साफ बन गया विशेषण। ऐसे ही कमरा कैसा है? थालीके अभाव वाला है। तो थालीका अभाव बन गया। विशेषण और उस अभावका सम्बन्ध है कमरेके साथ और कमरेको आँखोंसे जाना ही है तो यों अभावसे आँखोंका सम्बन्ध बन गया। यह माना गया छठा सम्बन्ध।

**वस्तुतथ्योंको जाननेमें प्रमाद न करनेका अनुरोध** देखा सीधी-सादी दाल-रोटी बनाकर रोज-रोज खाते-खाते जी उकता जाता है ना, तो मन करता है कि चलो आज अमुक चीज बना लें, आज अमुक चीज बना लें। तो ऐसे ही समझो कि एक सीधी-सादी सरल बात जीव, पुद्गल, भेदविज्ञान, यही-यही सीमित-सी बात सुनते रहे तो ठठेरेके कबूतर जैसी दशा हो जाती है। जैसे ठठेरेके यहाँ रहने वाले

कबूतरके ऊपर रोज-रोज ठनठनकी आवाज होते-होते रहनेका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, वह तो ज्योंका त्यों उस आवाजको सुनता रहता है। वह ठनठनकी आवाज सुनकर भगता नहीं। ऐसे ही रोज-रोज वही-वही चीज सीमित रूपमें सुनते रहनेसे कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। मन करना चाहिये कि कोई नई-नई चीजकी जानकारी करें। देखो काम तो न चलेगा दाल-रोटी खाये बिना, यह तो करना ही होगा। ऐसे ही काम तो न चलेगा भेदविज्ञान बिना। पूरा तो इसीसे पड़ेगा कि जहाँ आत्मस्वातंत्र्यका बोध हो। पुद्गलसे जीवको न्यारा समझें, कषायोंसे जीवको न्यारा जानें। काम तो देगा यही भेदविज्ञान, स्वभावज्ञान। मगर रोज-रोज सुन-सुन करके अपने-अपने अनुभवसे विचार लो कि वहीँके वहीँ हैं कि नहीं? कुछ उत्थान किया क्या? बात सही है, ठीक है। करना वही है, करे, मगर सीमित रटंतमें तृप्त न हो जावो, ज्ञानके लिए तो सदा भूखे रहो। हमें तो सब तथ्य जानना है, सब कुछ समझना है। देखिये प्रथमानुयोगके कथानक पढ़ें तो वहाँ भी ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा मिलती है। जब यहाँ ही नाटकों में, थियेटरोमें न सनीमोंमें देखते हुए बीच-बीच अश्रु आते रहते हैं और अन्तमें जब मुख्यपात्रके ऐश्वर्यका दृश्य सामने आता है तो वहाँ कितनी प्रसन्नता होती है तो ऐसे ही पुराण पुरुषोंके चरित्र सुनकर भी हमें ज्ञान और वैराग्यकी झलक मिले तो क्या सम्भव नहीं है? तो जैन आगमकी कौन-सी बात व्यर्थ है सो बताओ। सबका उपयोग उठाओ। उपयोग लेनेकी कला सीखो और देखो सब कुछ कहकर भी आना है भेदविज्ञापनपर ही। सारे भोजन बनाकर भी आप खुश होंगे तो दाल-रोटीसे ही। चाहे आप प्रथमानुयोग पढ़ें, चाहे करणानुयोग पढ़ें, चाहे चरणानुयोग और चाहे द्रव्यानुयोग। आखिर अन्तमें आना पड़ेगा अपने आत्मामें ही। कल्याण तो तब ही होगा। मगर सीमित बात ही रोज-रोज सुननेसे एक ऐसी स्थिति हो जाती है जैसे कि गाड़ीमें चलने वाला गलियार बैल। जैसे उसे कितना ही पीटा जाये, पर वह आगे नहीं बढ़ता, ऐसे ही कितना ही समझाया जाये, पर आगे बढ़ाव नहीं होता। तो भाई आगमसे सर्वरत्न भरे हैं, सबसे लाभ हैं।

**संयुक्तविशेषणादि सन्निकर्षोंमें प्रमाणत्वकी प्रसिद्धि** यहाँ शंकाकारकी चर्चा चल रही है कि ज्ञान प्रमाण नहीं है, सन्निकर्ष प्रमाण है। इस विषयमें बात चल रही है कि जो छठा सम्बंध माना है सन्निकर्ष विशेषणविशेष्य भावका तो विशेषणविशेष्य भाव मानते हुए कि थालीके अभावका सम्बंध है कमरेके साथ, कमरेको आँखोंने देखा, इस तरह एक संयुक्त विशेषण सम्बंध द्वारा थालीके अभावको जाना। पर बताओ तो सही कि किसीको नासिकाका मल दूर करना हो तो सीधे ही क्यों नहीं छिड़क देते। हाथको टेढ़ा-मेढ़ा करके, उसकी विशेष कवायत करनेकी क्या जरूरत? सीधे-सादे मान लो आखिर वे भी पहुंचेंगे ज्ञान तक ही। ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नहीं होता। इस तरह कारकसाकल्य प्रमाण न रहा, इन्द्रिय प्रमाण न रहा, इन्द्रियव्यापार प्रमाण नहीं और इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रमाण नहीं।

**प्रतिनियत ज्ञानकी सिद्धिके लिये सन्निकर्षादिमें योग्यता माननेका विफल श्रम** अब शंकाकार जब कि सब बातसे थक गए कि सम्बंध भी हो रहा है, फिर भी प्रमाण नहीं बन रहा। जैसे आँखोंका

आमके रससे सम्बंध बन रहा, क्योंकि आममें रूप भी है, रस भी है। जब आँखसे देखा आम तो रससे भी सम्बंध बन गया। कोई आम रससे जुदा नहीं है। पर रसपान क्यों नहीं होता? आँखोंसे रूपका ही ज्ञान क्यों होता? तो उस विषयमें उत्तर देते हैं कि इस सन्निकर्षमें भी ऐसी योग्यता है कि किसी योग्यताको पाकर सन्निकर्ष ज्ञान कराता है और वह योग्यता नहीं होती तो ज्ञान नहीं कराता। उसका उत्तर साफ है जब तुम योग्यतापर उतरो तो सीधे आत्मज्ञानकी योग्यतामें आ जावो, सम्बंधकी योग्यतामें न उतरो और वह योग्यता क्या है? ज्ञानावरणका क्षयोपशम। जैसे जिस ज्ञानावरणका क्षयोपशम है उसके अनुकूल उपयोग लगनेपर उसका ज्ञान होता है। देखो एक बात और ध्यानमें दो स्वानुभव होता है ना वहाँ, पर कैसे होता स्वानुभव? जिसके स्वानुभूत्यावरण प्रकृतिके क्षयोपशम है उसके उस क्षयोपशमलब्धिके होनेपर तथा उपयोग होनेपर स्वानुभूति होती है। प्रकृतियाँ १४८ ही नहीं हैं। ज्ञानावरणके कितने भेद? मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। अब देखिये मतिज्ञानावरणके कितने भेद हैं अक्षमत्यावरण, स्मृत्यावरण, तर्कावरण, प्रत्यभिज्ञानावरण, अनुमानज्ञानावरण। अच्छा और हर एकके कितने भेद हैं? कहते हैं कि इतने भेद लगा लो जितने पदार्थ होते हैं। जैसे इस कमरेमें १०० चीजें रखी हैं और उन १०० चीजोंका ज्ञान कर रहे। खम्भा जाना तो निश्चित है कि हमारे खम्भाज्ञानावरणका क्षयोपशम है, चौकीको जाना तो चौकीज्ञानावरणका क्षयोपशम विदित है। कितने ज्ञानावरण होते हैं? अरे जितने पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो रहा उतने ज्ञानावरण छाये थे जीव में, और पदार्थ हैं सारे। तो एक आत्माका ज्ञान नहीं हो रहा तो क्या है? आत्मज्ञानावरण छाया। और आत्मज्ञानावरणका विगम विशेष हो तो आत्मज्ञान हो जाये। तो जितना-जितना ज्ञान होता है उस-उस पदार्थ विषयक ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, यह तो हुई ज्ञानलब्धि और इसका हुआ उपयोग याने उपयोग उस ओर लगा तो उसका ज्ञान होता है। इस तरह ज्ञान बनता है। और यों ज्ञान प्रमाण है। इस ज्ञानको छोड़कर अन्य कुछ प्रमाण नहीं है।

**इन्द्रिय शक्तिको प्रमाण कहनेका अर्थ अर्थग्रहण योग्यता माननेपर भावेन्द्रियरूप ज्ञानके प्रमाणत्वकी सिद्धि** अब देखो होता है ना ऐसा कि जो हठी होता है वह मरते-मरते भी अपने हठकी कोई न कोई बात कहता है। ऐसे ही पंचायतमें एक जाटने अपने किसी हिसाबकी बातमें कह दिया कि ३० और ३० मिलकर ८० होते हैं। सभीने कहा अरे ८० कैसे होते? ६० होते हैं। लो उसको हठ हो गई कि ३० और ३० मिलकर ८० ही होते हैं। और साथ ही यह भी कह बैठा कि यदि ३० और ३० मिलकर ८० न होते हों तो हम अपनी ५ भैंसों जो करीब १०-१० सेर दूध देती हैं वे हम पंचों को दे देंगे। यह बात उसकी स्त्रीको भी मालूम हुई। जब जाट घर गया, स्त्रीको उदास देखा तो उदासीका कारण पूछा स्त्रीने कहा कि आपने पंचायतमें कह दिया कि ३० और ३० मिलकर ८० होते हैं और यह भी कह दिया है कि ८० न होवें तो हम अपनी सभी भैंसों पंचोंको दे देंगे, सो हमें दुःख इस बातका है कि कल हमारी सभी भैंसों पंच लोग ले लेंगे। तो वह जाट बोला अरी तू तो बड़ी नादान

है, चाहे सभी लोग कहते फिरें कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं, पर हम जब अपने मुखसे कहें कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं तभी तो पंच लोग भैंसें ले जायें। यह हमारे पास लट्ठ किसलिये है? तो भाई कोई ऐसी ही हठ करे तो उसका क्या इलाज? यहाँ सन्निकर्षवादी अपनी सब बातोंमें सफल हो गया तो अब वह कहता है कि चलो इन्द्रिय प्रमाण न सही, इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रमाण न सही, मगर इन्द्रिय शक्ति तो प्रमाण है। इतनी बात तो हमारी रख लो। अब हमारा आखिरी समय है, हम आपसे विदा हो रहे हैं तो कमसे कम हमारी इतनी बात मानकर तो हमारी लाज रख लो। कह तो दो कि इन्द्रिय शक्ति प्रमाण है। तो सुनो इन्द्रिय शक्तिका अर्थ क्या करते हो? यह इन दार्शनिकोंसे पूछ रहे। यदि कहो इन्द्रियकी योग्यता ही इन्द्रिय शक्ति है तो बस वही तो बात आ गई। भावेन्द्रिय है, यही योग्यता है, यही ज्ञान है और यही प्रमाण कहलाता है। तो एक आत्मयोग्यता बिना, एक ज्ञानयोग्यता बिना तो प्रमाण नहीं आता, इसलिए ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञानको छोड़कर अन्य कुछ प्रमाण नहीं। इन्द्रियशक्ति भी तो आत्माकी लब्धिका ही नाम है। जैसे बोला कि तीन इन्द्रिय जीवोंमें जानने की शक्ति है, इसे चाहे यों बोलो कि तीन इन्द्रिय जीवमें तीन इन्द्रियावरणका क्षयोपशम है, तीन इन्द्रियसे जाननेकी योग्यता है। शक्ति योग्यतासे अलग क्या चीज है? इसलिए इन्द्रिय शक्ति प्रमाण कहा तो योग्यताका अर्थ समझकर कहने चलो तो तुम्हारी हांमें हां कहे देते हैं और यदि ज्ञान और योग्यताको छोड़कर और कुछ हौवा हो तुम्हारी इन्द्रिय शक्तिका अर्थ तो वहाँपर भी तुम विचार करो, वह प्रमाण नहीं है। कोई भी अचेतन प्रमाण नहीं हो सकता। जो ज्ञान है, जिसमें चेतन है वह ही प्रमाण हो सकता, अन्य कुछ प्रमाण नहीं हो सकता।

**ज्ञानके प्रमाणत्वकी चर्चामें अपनी ही खासकी चर्चा** भैया! बताओ, यह बात किसकीकी जा रही है? खुद की। कुछ आदमी ऐसे भोले होते हैं कि उनकी ही तो बातकी जा रही हो और वे पहिचान नहीं कर पाते कि हमारी बात कही जा रही है। ऐसे ही कही तो जा रही है अपने आत्मज्ञानकी बात, आत्मा है, ज्ञानस्वरूप है, कैसा ज्ञान है? कैसी योग्यता है और समझमें न आये कि हमारी बात कही जा रही है और आँखें भी देखें कहीं और जगह, किसकी बात कही जा रही है, किसी औरकी बात कही जा रही है, तो वह ऐसा ही भोलापन समझिये। भाई ऐसा भोलापन दूर करो। बाह्य पदार्थोंमें तो भोले बन जावो, पर आत्माके ज्ञानमें भोले मत बनो। कुछ लोग कहते हैं कि हमारी याददाश्त इतनी खराब हो गई कि हम भूल जाते हैं। ठीक है यह, मगर बाहरी पदार्थोंकी बात भूल जावो, इसकी भी खबर न रहे, उसकी भी खबर न रहे तो यह गुण है कि दोष है? अरे यह तो गुण है। और वे यह बतायें कि आत्माकी खबर तो कहीं नहीं भूलते? चाहे कितने ही वृद्ध हो जायें ५०-६०-७०-८० वर्षके हो जायें, कितनी ही बड़ी उम्रके हो जायें, फिर भी जिसने आत्माका ज्ञान पाया है वह कभी उस आत्माकी बातको भूल नहीं सकता। चाहे इन्द्रियाँ कितनी ही शिथिल हो जायें, यहाँ तक कि मरण समयमें वह बेहोश जैसी हालतमें भी हो जाये, जिसे लोग समझ लेते कि यह तो बड़ा ज्ञानी था, पर इसको मरण समय बेहोशी है, ज्ञान बिगड़ा हुआ है, सावधानी नहीं

है, इसका खोटा मरण हो रहा..., पर ऐसी बात नहीं। ज्ञानी पुरुष बेसुधीमें भी ज्ञानका तो प्रत्यक्ष होता ही है। उसे कोई नहीं मेट सकता। चाहे वह बेहोश हो जाये, उसकी कैसी भी स्थिति हो, जिसने ज्ञानका साक्षात्कार किया ऐसे पुरुषके ज्ञानको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं है। उसी ज्ञानकी यह चर्चा है कि हम आपमें जो ये ज्ञान बनते हैं तो उनकी विधि क्या है और प्रमाण कौन है? यह ज्ञान ही प्रमाण है।

**इन्द्रिय, सन्निकर्ष व इन्द्रियशक्तिके प्रमितिमें कारणत्व व साधकतमत्वकी असिद्धि** प्रसंग चल रहा है प्रमाणत्वके निर्णय का। निर्णय किया गया कि ज्ञान ही प्रमाण है। तब इसके खिलाफ अनेक दार्शनिक आये, उनमेंसे इस समय तीन बातोंको सामने रखिये। कोई लोग कहते हैं कि इन्द्रिय प्रमाण है, कोई कहते हैं कि इन्द्रिय व पदार्थका सम्बन्ध याने सन्निकर्ष प्रमाण है। तो कोई कहते हैं कि इन्द्रियकी शक्ति प्रमाण है ये तीन बातें सामने रखो और उनके मुकाबलेमें एक बात सामने रखें। जैसे तराजूमें दो पलड़े हैं एकपर रखें ज्ञान और एकपर रखो ये तीन चीजें इन्द्रिय, सन्निकर्ष और इन्द्रियशक्ति। अब इसका कुछ विवेचन छुटपुट विवाद संघर्षरूपमें समझियेगा। उन तीन बातों मेंसे किसीके लिये भी पूछा जा रहा है कि बतलाओ ये इन्द्रिय और सन्निकर्ष और इन्द्रियशक्ति प्रमाण हैं, इसमें आपका हेतु क्या है? तो शंकाकार कहते हैं कि बात यह है कि ये प्रमितिमें साधकतम हैं। साधकतम मायने किसी कामके किये जानेमें विशेष साधकतम हो उसे कहते हैं साधकतम। वे कहते हैं कि इन्द्रिय शक्तियाँ ये साधकतम हैं, इसलिए प्रमाण हैं। प्रमाणताका हेतु यह है कि यह साधकतम है। तो फिर पूछो कि यह इन्द्रिय आदि साधकतम है, इसका हेतु क्या? तो शंकाकार कहते हैं कि ये ज्ञानमें कारण हैं इस कारण साधकतम हैं। तो कहिये वाह, यह तो इतरेतरश्रय दोष हो गया। साधकतम होनेसे कारण सिद्ध होता है और कारण सिद्ध होनेसे साधकतम बनता है। जैसे एक ताला आता है ना जो बिना चाभीके लग जये। चाभी रह जाये संदूकमें और लगा दिया जाये ताला, तो क्या परिस्थिति होती है? जब ताला खुले तब चाभी निकले, जब चाभी निकले तब ताला खुले। ऐसे ही यहाँ भी एक झंझट बना लिया। ये इन्द्रिय सन्निकर्ष, ये शक्तियाँ जब साधकतम सिद्ध होवें तो कारण बने और जब कारण सिद्ध हो तो साधकतम बने। तो इस कारणसे इन तीनोंको प्रमाण नहीं सिद्ध किया जा सकता।

**इन्द्रियादिके प्रमाणत्व सिद्ध करनेके लिये प्रस्तुत तद्भावाभावमें भावाभाववक्ता हेतुकी असिद्धि** अब यह दार्शनिक कहता है कि इस कारणसे प्रमाण न सिद्ध होने पर हम एक नया कारण और बतावें सो सुनो। यहाँ इन्द्रियाँ, सन्निकर्ष और शक्तियोंको प्रमाण मानने वाले कहते हैं कि बात यह है कि इनके होनेपर ज्ञान होता है, प्रमाण होता है और न होनेपर प्रमाण नहीं होता इसलिए ये प्रमाण माने जाते हैं। तो उत्तर स्पष्ट है। पहले भी बता दिया कि यह सही बात नहीं है। कभी इन्द्रिय है तब भी ज्ञान नहीं होता, कहीं इन्द्रिय नहीं है तब भी ज्ञान होता। जैसे सर्वज्ञके इन्द्रिय नहीं है और ज्ञान होता है और सोये हुए पुरुषके इन्द्रियाँ हैं और ज्ञान नहीं होता, यह सन्निकर्षकी बात है और यह

ही शक्तिकी बात है और अगर इस तरहसे प्रमाण कहते हो कि इसके होनेपर ज्ञान होता है और इसके न होनेपर ज्ञान नहीं होता, तो इस विधिसे आत्माका भी तो नाम कभी-कभी ले लो, या इसे बिल्कुल ही छोड़ रखोगे? केवल इन्द्रिय-इन्द्रिय ही गावोगे या आत्माका भी नाम लोगे? वहाँ भी तो यह ही बात हो रही है कि आत्माके होनेपर प्रमाण होता है और आत्माके न होनेपर प्रमाण नहीं होता। तब शंकाकार कहता है कि आत्माको हम प्रमाण यों नहीं मान सके कि आत्मा तो है साधारण याने सब ही वस्तुओंके ज्ञानका आधार तो सबका तो नहीं प्रमाण होता रहता। प्रमाण और ज्ञान कभी होता है कभी नहीं और ज्ञान अगर ज्ञानका और प्रमाणका साधकतम हो तो सारा ज्ञान हमेशा एक साथ रहना चाहिए, जब सारा ज्ञान हो गया तो प्रमाण रहा ही नहीं। तो यह आत्मा साधारण है इसलिए यह प्रमाता प्रमितिका साधकतम नहीं है, तो आचार्यदेव कहते हैं ऐसा ही साधारण तो सन्निकर्ष और इन्द्रिय आदि है जो सब पदार्थोंके लिये तैयार रहता है। अगर सन्निकर्ष, इन्द्रिय व इन्द्रियशक्ति प्रमाण हो तो जैसे आत्मामें दोष देते वही दोष इसमें आता है। तो शंकाकार कहता है कि यह बात नहीं, इन्द्रिय और सन्निकर्ष और शक्ति तो कभी असाधारण भी बन जाती है याने कोई खास मौकेकी बात हो तो इन्द्रियशक्ति जानें, जहाँ मौका मिले उसे असाधारण कहते हैं। तो उत्तर उसका भी यही है कि ऐसे ही आत्मा असाधारण बन जाता है। जब योग्यता हो, साधन हो, उपयोग चले तो उसका ज्ञान होता है, नहीं तो नहीं होता, तो आत्मा प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण है, अचेतन प्रमाण नहीं होता, ये छुटपुट संघर्ष चल रहे हैं, ये लम्बे-चौड़े नहीं हैं, एक-एक बातके संघर्ष हैं। तो यह शंकाकार दार्शनिक होता है कि हम कैसे जानें कि आत्मामें असाधारणता है याने दोष यह दिया जा रहा कि आत्मा यदि ज्ञानका कारण है, ज्ञानका साधकतम है तो आत्मा तो सदा रहता तो उससे तो प्रतिनियत अर्थके ज्ञानका नियम तो नहीं बनता। देखो जब आत्मा असाधारण बनता है तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके योगकी संपत्ति मिलती है और तब ज्ञान बनता है, ऐसा ही तो उत्तर दिया था आचार्य ने। तो शंकाकार कहता है कि आत्माकी असाधारणताका क्या अर्थ है? तो आचार्य कहते हैं कि तुम्हारे सन्निकर्षकी असाधारणताका क्या अर्थ है? शंकाकार कहता है कि विशिष्ट ज्ञान कार्यका हेतु बनना। ऐसे ही आचार्य कहते हैं यही आत्माकी बात है कि विशिष्ट ज्ञानका हेतु बनना। याने ज्ञानका मौका ही बनता है। तो शंकाकार कहता है कि आत्मा तो सदा रहता है, तब तो सब चीजोंके ज्ञानका आत्मा साधारण हेतु रहा। वह असाधारण कैसे हो सकेगा? जब-जब ज्ञान करें सभीका साधारण ज्ञान है आत्मा को, चाहे सुबह ज्ञान करे तो, दोपहरको ज्ञान करे तो उसे असाधारण कैसे कहते? तो आचार्यदेव कहते हैं कि तुम्हारा सन्निकर्ष और इन्द्रियशक्ति भी सदा रहती है तो उसे तुम असाधारण कैसे कह दोगे? तो शंकाकार कहता है कि हम यों कहेंगे सुनो, जिस समय इन्द्रिय और सन्निकर्ष ज्ञानकी उत्पत्तिमें व्यापार कर रहे हो उस समय यह इन्द्रिय और सन्निकर्ष कारण है बाकी समय नहीं। तो कहते हैं कि यह ही बात हमारे आत्मामें भी कह लो कि

जिस समय आत्मा किसी पदार्थकी जानकारीमें उपयोग लगा रहा है उस समय ज्ञानका कारण है वह, उस ज्ञानका प्रमाण है वह और इस कारण प्रमाणताकी व्यवस्था बन जायेगी।

**आत्माके कथंचित् अनित्यत्वके कारण अर्थज्ञानमें उपयुक्तताके समय प्रतिनियम अर्थके ज्ञानका प्रतिनियम** शंकाकार कहता है कि हे जैन आचार्यों! तुम आत्माकी बात, अगर आत्माकी असाधारणता उपयुक्ता व अनुपयुक्तताके कारण रखोगे तो तुम्हारा आत्मा अनित्य बन जायेगा, याने जब उपयोग लगाया तो प्रमाण हुआ, तो जब उपयोग वाला दूसरा आत्मा उपयोग न करे तो अब यह आत्मा दूसरा, यों तुम्हारा आत्मा अनित्य बन जायेगा। तो आचार्यदेव कहते हैं कि तुम घबराओ मत। आत्मा अनित्य बन जाने दो, सत्यता यही है कि आत्मा कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य। यदि आत्मा सर्वथा नित्य हो तो उसमें अर्थ क्रिया नहीं बन सकती। याने जो कूटस्थ अपरिणामी हो तो उसमें क्रिया प्रसंग यह कुछ नहीं बन सकता। देखो जैसे कोई लोग एक ब्रह्म कूटस्थ नित्य अपरिणामी मानते हैं तो उसके मायने क्या? जैसे लुहारकी दूकानमें जब कोई लुहार हंसिया खुरपा वगैरा कोई चीज बनाता है तो वह उस लोहेको आगमें गर्म करता है फिर उसे कूटकर बनाता है, तो उस समय उस लुहारको चार लोहे चाहिए एक तो निहाई चाहिए, दूसरा हथौड़ा चाहिए, तीसरा पकड़नेके लिए संडासी चाहिए और जो कूट रहा वह चाहिए। अब उन चारों लोहोंमें देखो तीन लोहा तो सांपकी जीभकी तरह लपलप करके चलते रहते हैं संडासी भी, हथौड़ा भी और जो पिट रहा वह भी, मगर वह निहाई महाराज तो ज्योंकी त्यों रहते हैं। तो कूटस्थ उसका नाम है, याने जैसे निहाई है बिना अदल-बदल वाली। ऐसे ही ब्रह्मस्वरूपमें कुछ अदल-बदल नहीं है। इसे कहते हैं कूटस्थ अपरिणामी। अगर कोई पदार्थ कूटस्थ अपरिणामी हो तो उसमें कोई काम नहीं बन सकता। अच्छा यह बतलाओ कि ज्ञान कौन करता? ब्रह्म, अरे वे कहते हैं कि नहीं, नहीं। ब्रह्म ज्ञान नहीं करता, किन्तु प्रकृति ज्ञान करती। अच्छा चलो प्रकृति करती, सुख-दुःख कौन करता? ब्रह्म, तो वे कहते ब्रह्म नहीं करता प्रकृति करती। अच्छा चलो प्रकृति ही सही और सुख-दुःखको अनुभवता कौन है? तो उन्होंने कहा कि ज्ञानके द्वारा निश्चयकी गई बातको यह चेतता है, सुख-दुःखको यह ब्रह्म चेतता है। चलो चेता सही, कभी सुख-दुःख चेता, कभी नहीं चेता। तब ही तो अर्थक्रिया कहलायेगी। तो सर्वथा नित्य तो न रहा। सर्वथा नित्य माननेमें अर्थक्रिया सम्भव नहीं है, इस कारण आत्मा सर्वथा नित्य नहीं, अतएव दोष नहीं दे सकते हैं ज्ञानकी प्रमाणतामें ये सिद्धान्तवादी जो इन्द्रिय और सन्निकर्ष और इन्द्रियशक्तिको प्रमाण मानते हैं।

**क्षणिकवादी दार्शनिक द्वारा तदाकारताको प्रमाण माननेका प्रस्तुत प्रस्ताव** अब चलो आचार्य महाराज मानो बहुत बोल-बोलकर थक गए होंगे, तो अब कुछ आराम करना है तो थोड़ा बौद्धोंकी बात छोड़कर आराम करेंगे, वे बौद्ध ही थोड़ा उनसे भिड़ लें। देखो बौद्धों, यह क्या कह रहे सन्निकर्षवादी, ये कह रहे हैं कि ये इन्द्रियाँ पदार्थके पास जाती हैं, इन्द्रियाँ पदार्थसे भिड़ती हैं तो ज्ञान होता है। तो बौद्ध कहते हैं नहीं, सन्निकर्षवादियोंकी बात गलत है। अब ये दोनों ही आ गए

सामने। एक अलंकारमें कह रहे, कोई सामने आये नहीं। यह सब आचार्यदेव ही प्रतिपादनका श्रम कर रहे हैं। बौद्ध कहते हैं कि इन्द्रियाँ पदार्थके पास नहीं जातीं, किन्तु पदार्थका आकार ज्ञानमें आता है इस तरह प्रमाण बनता है। अब आप जान गये होंगे। यहाँ मूलमें दो बातोंका प्रसंग है एक कहता है कि यह इन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय अर्थके पास जाती है। वे इन्द्रिय ज्ञान ही तो हैं, मतलब यह ही निकला कि ज्ञान अर्थके पास जाकर बनता और बौद्ध कहते हैं कि अर्थ ज्ञानके पास आता है याने अर्थका आकार ज्ञानमें आता है तब ज्ञान होता है, बाहर खुद खींचकर नहीं आता, किन्तु अर्थ का आकार आता है। और, जैन सिद्धान्त क्या कहता कि न तो ज्ञान अर्थके पास जाता है और न अर्थ या अर्थका आकार ज्ञानमें आता है, किन्तु यह ज्ञान राजा अपने ही किलेमें सुरक्षित बैठा हुआ अपनी ही कलाके द्वारा अपने आपको सत् है उसको जान लेता है। तो अब यह बात रखी जा रही है कि क्षणिकवादियोंकी ओरसे कि पदार्थ जब आकर सौंपता है ज्ञान को, ज्ञानमें आकार प्रतिबिम्बित होता है तो ज्ञान जानता है। देखो भाई एक आदत तो बनाओ, अगर विद्वान हो तो विद्वानसे प्रेम रखो, ये दार्शनिक, ये बौद्ध, ये वेदान्ती कुछ भी कहें मगर घृणा किसीसे या किसी बातपर न करो। प्रीति रखो। वे दार्शनिक भी प्रेमपात्र हैं, घृणाके पात्र नहीं, आखिर विद्वान ही तो हैं और देखो उनकी बात कुछ-कुछ समझमें भी आती होगी कि भाई ठीक ही तो कह रहे, लगता तो है ऐसा कि मेरे ज्ञानमें आकार आ गया तब उस पदार्थको जाना और जैनी तो ज्ञेयाकार शब्द भी बोला करते हैं कि ज्ञानमें ज्ञेयाकार आया। तो भाई कोई थोड़ी-सी त्रुटि होती है और उस त्रुटिका जब विसम्वाद बन जाता है तो वह एक पार्टीका (मतका) रूप रख लेता है। तुम जरा उस त्रुटिको ही देख लो मूलमें कितनी त्रुटि है? पर उसका अर्थ यह नहीं है कि इस ज्ञेयका जो आकार है वह यहाँ आ जाता। अगर आ जाये तो इसमें आकार नहीं रहा और यह भी अर्थ नहीं है कि इसका फोटो आ जाता। ज्ञेयाकारका अर्थ है अर्थविकल्प याने अर्थग्रहण, पदार्थके जाननेकी परिणति। और जाननेकी परिणतिका नाम विकल्प है।

**ज्ञानमें अर्थाकारता न होकर अर्थग्रहणरूप विकल्पकी वृत्ति** देखो एक बहुत बड़ी सावधानी बिना जैनशासनका बोध ही नहीं कर सकते। देखो विकल्पके तो अनेक अर्थ हैं। विकल्प मायने रागद्वेष। रागद्वेषमय होना और विकल्प मायने रंज मानना। जब कोई आता है ना किसी घर फेरेपर तो कहते हैं कि भाई तुम विकल्प न करो, मायने रंज न करो। यों विकल्पके कितने ही अर्थ लगाते हैं और विकल्प मायने है अर्थग्रहण याने जानकारी। अब विकल्प नाम सुनकर सब विकल्पोंको एक लाठीसे हांकना तो बुद्धिमानी नहीं है। तुम निर्णय बनाओ कि इस विकल्पका क्या अर्थ है? बताते हैं ना कि ज्ञान तो सविकल्प होता है और दर्शन निर्विकल्प होता है और विकल्पका नाम सुनकर कोई यह अर्थ लगा दे कि देखो जैनियोंने भी तो कह दिया कि ज्ञान सविकल्प है, तो है ना रागद्वेष इसका स्वभाव। रागद्वेष इसमेंसे हट नहीं सकते क्योंकि ज्ञान सविकल्प है और विकल्पके मायने है रागद्वेष। तो यह बात ठीक नहीं। विकल्पका अर्थ समझें सविकल्प ज्ञान है, यहाँ विकल्पका मतलब रागद्वेष



नहीं किन्तु पदार्थकी जानकारी। देखो जानकारी एक शुद्ध तरंग है। तरंग तो हुई ना? और यह स्वभाव है आत्मा का। आत्माका स्वभाव जगमग है। जगमग जानते हो किसे कहते हैं? जैसे दीपकका स्वभाव क्या? जगमग। जगमगके मायने क्या? दीपककी रोशनी बढ़ गई, घट गई फिर बढ़ गई, फिर घट गई, यह काम दीपकमें निरन्तर होता रहता है, बिजलीके बल्ब में भी ऐसा ही होता। बहुत गौर करके देखो तो मालूम पड़ेगा जब अधिक जगमग हो तो स्पष्ट हो जाता कि इसमें जगमग हो रहा। तो ऐसे ही समझो कि आत्मा जगमग रूप है। ज्ञान तो है जग और आनन्द है मग। वैसे भी देख लो मोटे रूपसे ज्ञान जब होता है तो कुछ अभिमुखता लेकर होता है, परकी अभिमुखता। शुद्ध ज्ञान हो तो भी अर्थ ग्रहण तो है, इतनी उठी बात तो है ज्ञान। ज्ञानका तो उठना स्वरूप है और आनन्दका भिंचना स्वरूप है। कैसे? जैसे ज्ञान अभिमुख होकर अपना स्वरूप पाता है, ऐसे ही आनन्द परके अभिमुख होकर अपना स्वरूप पाता, किन्तु अपने आपमें मग्न होकर निस्तरंग होकर, गुप्त होकर, समरस होकर आनन्द पाता है। तो देखिये आत्मा निरन्तर जगमग रूप रहा याने ज्ञानानन्द रूप।

**तदाकारताकी प्रमाणता माननेके प्रस्तावकी मीमांसाका कुछ स्पष्टीकरण** अब मूल प्रकरणपर आइये क्षणिकवादी यह कहते हैं कि ज्ञान यों नहीं बनता। ये पदार्थ अपना आकार सौंपते हैं, सो जिस पदार्थने इस आत्मा को, ज्ञानका आकार सौंपा तो यह ज्ञान उस पदार्थको जानता है। उसका मंतव्य यह है कि अर्थ मुफ्तमें ज्ञान नहीं खरीदता। क्षणिकवादीका कहना है कि ज्ञान अर्थका आकार लिए बिना पदार्थको जानें तो यह मुफ्त खरीदनेकी तरह है, पैसा तो दे नहीं और चीज ले ले ऐसा करे कोई तो मुफ्त खरीदना कहते ना, तो ऐसे ही जैनियोंके ज्ञानको पदार्थने आकार तो दिया नहीं और पदार्थने अपना ज्ञान करा लिया तो ऐसे बौद्ध लोग जैनियोंपर आपत्ति दे रहे हैं। तुम तो मुफ्त खरीदनेकी आदत वाले हो गए और उसे बौद्ध लोग मुफ्त खरीदनेकी बात ही नहीं करते। हम पदार्थका आकार पहले ज्ञानको सौंपवा देते हैं उसके बाद ज्ञान पदार्थको जानें ऐसी व्यवस्था बनाते हैं। खैर इसका भी उत्तर दिया जायेगा। ये बौद्ध भी कहीं-कहीं मुफ्त खरीददार बनते कि नहीं? यह बताया जायेगा, और अभी सुन लो थोड़ा-सा इनके यहाँ चार तरहके प्रत्यक्ष माने गए हैं (१) इन्द्रियज प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष, (३) योगिप्रत्यक्ष और (४) स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष। देखिये सबकी फैक्टरी अलग-अलग है। इन्द्रियज प्रत्यक्षका काम क्या है कि इन्द्रिय इन पदार्थोंको जान लेवे, और समझ लेवे, और योगिप्रत्यक्षका अर्थ क्या है कि तीन लोक तीन कालके सब पदार्थोंको स्पष्ट जान लेवे और स्वसम्वेदन प्रत्यक्षका क्या अर्थ है कि ज्ञान अपने ही ज्ञानसे पूर्व ज्ञानको समझ लेवे याने निरन्तर ज्ञान होते रहते हैं ना तो उत्तर ज्ञान पूर्व ज्ञानको अनुभवमें ले लेवे, ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको अनुभवमें लेवे इसे बोलते हैं स्वसम्वेदन। अब स्वसम्वेदनमें देखो यदि हमने इन्द्रियसे खम्भेको जाना तो यह बात बन गई कि खम्भेने आकार मेरे ज्ञान को सौंप दिया तब हमने खम्भाको जाना। और स्वसम्वेदन प्रत्यक्षमें क्या बतलायें कि ज्ञानमें ज्ञानका आकार क्या सौंपा? ज्ञानमें आकार ही नहीं और

ज्ञानको ज्ञानने जान लिया तो ये आये ना मुफ्त खरीदने। ज्ञानका आकार तो ज्ञानमें आया नहीं और उस ज्ञानको जान लिया, तो ये एक संघर्ष वचन है। तो क्षणिकवादियोंका सिद्धान्त सन्निकर्ष इस तरहका है कि यह पदार्थ ज्ञानमें आता है आकारके माध्यम से, और यों जब ज्ञानका और पदार्थका यहाँ भिड़ंत होता है तब ज्ञान बनता है, और नैयायिक वैशेषिक क्या कह रहे थे कि ज्ञान पदार्थके पास जाता, इन्द्रिय पदार्थसे चिपटती है वहाँ भिड़ंत होती है तब ज्ञान होता है। देखो भिड़ंत दोनोंने मान लिया, पर एकने अर्थके पास भिड़ंत माना और बौद्धने ज्ञानके पास भिड़ंत माना। इसे बोलते हैं तदाकार, और तदाकार प्रमाण है, इस सम्बंधमें युक्ति वे क्या देते? देखो यह निर्णय कैसे हो कि इसने खम्भाको जाना और चौकी आदिको नहीं जाना, अन्य पचासों चीजोंको नहीं जाना। क्षणिकवादी कहते हैं कि यह निर्णय इस आधारपर बनता है कि चूँकि खम्भाने अपना आकार सौंपा है ज्ञान को, इसलिए ज्ञानने खम्भाको जाना और जैनी मानते नहीं खम्भेमें आकारका सौंपना, तो तुम निश्चय क्या करोगे कि इसके ज्ञानने खम्भाको जाना। यह युक्ति देखें। तो तदाकार रूपमें होने वाला सन्निकर्ष प्रमाण है और पदार्थोंकी भिड़ंतका सन्निकर्ष नहीं, ऐसी अब ये बौद्ध अपनी बात रख रहे हैं। देखो बात विशेष कठिन नहीं है, दो बातोंका निर्णय हो रहा है। एक दार्शनिक तो यह कहता है कि इन्द्रिय पदार्थसे भिड़ा तो प्रमाण है और बौद्ध यह कहते कि पदार्थ इन्द्रियसे भिड़े मायने ज्ञानसे भिड़े तो यह तदाकारता प्रमाण है, पदार्थ अपना आकार ज्ञानको सौंप दे तो ज्ञान जानता है, और जैनदर्शन क्या कहता है कि यह कवायत दोनोंको नहीं करना है। न पदार्थको ज्ञानमें आनेकी जरूरत है और न ज्ञानको पदार्थमें जानेकी जरूरत है। अर्थ चूँकि सत् है इसलिए प्रमेय बन जाता है, और ज्ञान चूँकि ज्ञायक है, इसलिए जानने वाला बन जाता है। हां विषयभूत है इतना तो है, मगर कोई किसीके पास आ-आकर भिड़कर नहीं जानता। ज्ञान स्वतः प्रमाण है।

**तदाकारताके प्रामाण्यमें विसम्वाद होनेसे प्रमाणत्वकी असिद्धि** यहाँ क्षणिकवादी दार्शनिक कह रहे हैं कि ज्ञानमें जब पदार्थका आकार प्रतिबिम्बित होता है तब ही ज्ञान पदार्थको जानता है। यदि आकार आये बिना ज्ञान पदार्थको जाने तो यह भेद करना, फिर कठिन हो जायेगा कि यह ज्ञान खम्भेको जानता है व यह ज्ञान अमुकको जानता है। दुनियामें बहुत-से पदार्थ हैं अटपट, किसी भी पदार्थको जाननेको क्यों नहीं कह बैठते? उसका समाधान ही यह है कि जिस पदार्थका आकार ज्ञानमें आया, ज्ञान उसको जानता है। देखो इन सब प्रकरणोंमें यह समझते रहना कि यह बात किसकी ओर कह रहे हैं। यद्यपि बीच-बीचमें आपको हम बताते तो हैं, पर थोड़ा आप लोगोंको भी चाहिए कि इस विधिसे सुनें, इस जानकारीमें रहें कि यह बात किसी ओरसे कही जा रही है? क्षणिकवादी दार्शनिक कह रहे हैं देखो ज्ञानका स्वामी आत्मा है, लेकिन ज्ञान पदार्थका है। जैसे आपके घरमें किसी बच्चेकी तस्वीर टंगी हुई है, मान लो कोई बालक गुजर गया और उसकी तस्वीर आपके घरमें टंगी है तो तस्वीरका मालिक कौन? व्यवहारसे बताओ व्यवहारकी बात। तस्वीरके मालिक आप हैं, मगर तस्वीर किसकी? बच्चे की। तो भले ही तस्वीरका मालिक है यह गृहस्थ, मगर

तस्वीर गृहस्थकी नहीं। तस्वीर बच्चेकी है। तो ऐसे ही ज्ञानका मालिक है आत्मा, मगर आत्माका ज्ञान नहीं किन्तु खम्भाका ज्ञान याने जिसका आकार पड़ा उसका ज्ञान है तो खम्भेका आकार ज्ञानमें आया। जब हमने जाना कि यह खम्भा है देखें कैसी युक्ति चल रही है सुनते समय ऐसा लगता होगा कि बेचारे ठीक ही तो कह रहे हैं। उसमें दोषकी कौन-सी बात है? अच्छा तो अब दोष देखिये कह यह रहे हैं कि पदार्थ अपना आकार सौंपते हैं, तो पदार्थ जाने जाते हैं, तो क्यों जी, एक ही साँचेके १०० कलश मानो रखे हुए हों, आपके घरमें तथा अन्यत्र ५०-६० घरमें और हमने यहाँ रखे हुए कलशको जाना तो कैसे जाना कि उस कलशका आकार मेरे ज्ञानमें आया, तो आकार एक साँचेके सभी कलश हैं, ठीक यही आकार है उनका, दूसरा नहीं। तो आकार आनेसे कलशका ज्ञान होता तो १०० ही कलशोंका ज्ञान क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि वही आकार है सभी कलशों का।

**शंकाकार द्वारा प्रस्तुत तदुत्पत्तिमें भी प्रमाणत्वका अभाव** देखिये तदाकारताको प्रमाण माननेमें दोष आता है ना? तो इस दोषका निवारण करनेके लिये शंकाकार कहता है कि तदाकारतामें प्रमाणता नहीं आती तो तदुत्पत्तिको प्रमाण मान लो याने आकार आये इससे प्रमाणता नहीं आती तो यों मान लो इस कलशसे यह ज्ञान उत्पन्न होता, इसलिए यह ज्ञान इसी कलशको जानेगा और इसी आकार वाले जो ६-६ कलश घरमें रखे हैं उन्हें न जानेगा। तो ज्ञान करनेमें कारण हुआ तदुत्पत्ति। अच्छा पहले एक तो कथन फेल हो गया। अब जब तदाकारसे न जीत सके याने आकार आनेसे पदार्थका ज्ञान होता है तो एक साँचेकी कई चीजें मानो १०० नया पैसा वाला सिक्का ले लो, तो हिन्दुस्तान भरमें वे जितने हैं वे सब एक-से ही तो हैं ना, एक सा ही उनका आकार है, अब यह आकार आया यहाँ, सो यदि आकार आनेसे ज्ञान बनता तो आकार तो सबका यही है तो सारे १० पैसोंके सिक्कोंका ज्ञान हमें क्यों नहीं होता? आँखसे क्यों नहीं दिख रहे? तो इस विषयमें वे सब कहते हैं कि तदाकारकी बात तो हमारी फेल हो गई। अब हम तदुत्पत्तिकी बात रख रहे हैं। इस सिक्केसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है इस कारण इस ही सिक्केको जानेंगे, और देशभरमें पड़े हुए जो सिक्के हैं उनसे तो नहीं होता उसका ज्ञान पैदा, सो उन्हें नहीं जाना। क्षणिकवादी कह रहे हैं, यह तदुत्पत्ति प्रमाण है, तो इसमें अब दोष देखिये जिससे ज्ञान उत्पन्न होता ज्ञान उसको जानता है, यह ही प्रस्ताव रखा। तो देखो देखना इन आँखोंसे उत्पन्न होता कि नहीं। देखनेका ज्ञान इन आँखोंसे उत्पन्न होता कि नहीं और यह ज्ञान आँखोंको देखता जानता नहीं तो तदुत्पत्ति तुम्हारी कहाँ सही रही? जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न होता ज्ञान उसको जानता है, यह प्रस्ताव यहाँ अभी चल रहा है। तो ज्ञान तो इन्द्रियसे भी होता, पुण्यसे भी होता, पापसे भी होता। अरे जहाँ विपत्ति आती हो, कोई पापका उदय आये उस प्रकारकी बुद्धि बनी, तो ज्ञानके होनेके कारण बन गए। मगर इसको तो ज्ञान नहीं जानता।

**इन्द्रियोंकी नमकहरामी** देखो इन्द्रियाँ तो ऐसी हैं ही जो न स्वको जानतीं न आत्मा को, ये हैं इन्द्रियाँ नमकहराम सिपाही। दो चीजें होती हैं ना नमकहराम और नमकहलाल। नमकहलाल नौकर

तो वह है जो मालिकका ध्यान रखे और नमकहराम वह है जो मालिककी काट करे। तो ये इन्द्रियाँ ऐसी नमकहराम हैं कि ये अन्य बिरादरी कहो या शत्रु कहो या विरोधी कहो या बाह्य संग कहो, इनसे नाता जोड़ता है यह। ये इन्द्रियाँ सिपाही इन बाहरमें पड़े हुए पदार्थोंसे नाता जोड़ती हैं। और ये आत्मासे नहीं जोड़ती हैं इन्द्रियाँ नाता। आत्माका ज्ञान करनेको नहीं चाहतीं ये इन्द्रियाँ। ये बाह्य विषयोंका ज्ञान करनेके लिए ही सुभट बनी हुई हैं। और आत्माकी भी बात क्या? ये खुदको भी जाननेमें समर्थ नहीं। जैसे उदाहरण लो हमारा हाथ ठंडा है कि गरम, आप अपनी ही बात सोच लो, आप जब अपने हाथको परखना चाहते हैं कि ठंडा हैं या गरम तो दूसरे हाथसे छूकर जानते हैं। अरे जब तुम्हारा ही खुदका हाथ है तो दूसरा हाथ न लगाओ और समझ जावो कि गर्म है या ठंडा। जैसे जब बुखार चढ़ा है तब आप एक हाथसे दूसरे हाथकी नाड़ी पकड़कर समझ जाते हैं कि बुखार कितना तेज चढ़ा है। अरे जब खुदमें बुखार चढ़ा है तो जैसेके तैसे हाथ-पैर फैलाये पड़े रहो और बुखारका ज्ञान कर लो। मगर कहाँ ज्ञान कर पाते। ये हाथ खुद अपना स्पर्श नहीं जान सकते। ये इन्द्रियाँ दूसरेका स्पर्श जाननेके लिए पहलवानी करती हैं, मगर खुदको नहीं जानतीं। यह चटोरी जीभ दुनियाभरके फलोंके रसोंका ज्ञान करनेके लिए पहलवान बन रही है मगर रसना भी तो खुद पुद्गल है, खुद मेंसे कुछ रस नहीं लेती और बाहर-बाहरका ही रस ले लेकर यह पहलवान बन रही है। ऐसे ही घ्राणका काम है कि बाहर बाहरका ही ही गंध लेती मगर खुदका ज्ञान नहीं करती और आँखोंका काम तो बिल्कुल स्पष्ट है। बाहर-बाहरकी चीजें ही देखनेमें उनकी पहलवानी है, पर आँखें खुदको नहीं देख पातीं। खुदको देखनेके लिए सामने दर्पण रखते हैं ना तब जान पाते हैं कि काजल लगा है, यहाँ कुछ फुंसी हो गई है। अच्छा यहाँ भी बतलाओ क्या दर्पणको देखकर आँखने अपनी आँखको देख लिया? तब भी आँख आँखको नहीं देख पायी किन्तु इस आँखका निमित्त पाकर जो दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ा वह तोपर पदार्थ है, सामने है, अब भी उसको ही देख पाये, तो उसको देखकर अनुमानसे जाना जाता कि चूँकि हमारी आँखका ही यह प्रतिबिम्ब है और यहाँ यह फुंसी दिख रही है सो फुंसी इस आँखमें भी है। तो ये इन्द्रियाँ सब नमकहराम हैं, हम आपको ये अच्छे नौकर नहीं मिले।

**शंकाकार द्वारा प्रस्तुत तदाकारता व तदुत्पत्तिके समूहमें भी प्रमाणत्वकी असिद्धि** यहाँ प्रसंगमें यह बात चल रही है कि इन्द्रियसे ही तो ज्ञान उत्पन्न होता और वह ज्ञान इन्द्रियको जान नहीं पाता। तो तुम्हारी यह दलील कि जिससे ज्ञान उपन्न होता ज्ञान उसको जानता, दूषित हो गई कि नहीं। कुछ संकोच तो जरूर आ जायेगा। तो अब विवश होकर भी यदि कहो कि सुनो, सुनो दोनों ही तो प्रमाण हैं, तदाकार भी हो और तदुत्पत्ति भी हो। इन्द्रियसे ज्ञान तो उत्पन्न होता, मगर इस ज्ञानमें इन्द्रियका प्रतिबिम्ब तो नहीं पड़ा, इसलिए इन्द्रियको नहीं जान पाया और इन सामनेके पदार्थोंसे ज्ञान उत्पन्न भी होता और इन पदार्थोंका आकार भी आया इससे इस ज्ञानने इन पदार्थोंको जान लिया। अब यह बात रखें क्षणिकवादी तो इसमें भी दोष है सो सुनो। यहाँ शंकाकार यह बात रख

रहा है कि ज्ञान उस पदार्थको जानता है जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न होता और जिस पदार्थका आकार ज्ञानमें बनता, अन्यको नहीं जानता। तो देखो हमको किसी पदार्थका ज्ञान हुआ तो जिस समय पदार्थका ज्ञान होता है उस समय पदार्थका निश्चय नहीं होता। ऐसा यहाँ बौद्धदर्शनमें है। इसे तो बोलते हैं निर्विकल्प प्रत्यक्ष, और उसके बाद फिर जो ज्ञान होता है वह पहले ज्ञानके विषयका निर्णय करता है कि इसने यह जाना। तो अब देखो हमारे ज्ञानमें पहला ज्ञान जब रहा है तो पहले ज्ञानसे दूसरा ज्ञान उत्पन्न हुआ और पहले ज्ञानमें जो कुछ आया था वह सब आकार भी आ गया और फिर भी पूर्व ज्ञानका ज्ञान नहीं हो रहा। सो देखो तदुत्पत्ति और तदाकार दोनों होकर भी ज्ञान फेल हो गया।

**शंकाकार द्वारा प्रस्तुत तदाकारता, तदुत्पत्ति व तदध्यवसायमें प्रमाणत्वकी असिद्धि** यदि कहो कि तदध्यवसाय और चाहिये। तीन हो जायें तो प्रमाण है। तो सुनो जैसे पहले ज्ञानसे जिसे कामला रोग है उसने चीजको पीली देख लिया। चाँदीका गिलास उसे पीला दिख गया और उस ज्ञानके बाद जो दूसरा ज्ञान हुआ। सो प्रथम ज्ञानसे ही तो पैदा हुआ दूसरा ज्ञान। उस ज्ञानमें पहला ज्ञान आ गया ना और पहले ज्ञानमें जो फोटो आयी थी वह भी आ गई। एक दर्पणमें जितनी फोटो आती है दूसरे दर्पणके सामने कर दें तो उसकी फोटो आ जायेगी ना दूसरे दर्पण में। हालांकि दूसरे दर्पणके सामने नहीं है वह पदार्थ जिसकी फोटो आ रही, मगर उन पदार्थोंकी फोटो है इस दर्पणमें और यह दर्पण आ गया इस दर्पणमें तो वे सब फोटो आ गए। तो जब उत्तर ज्ञानमें पूर्व ज्ञान आ गया तो उसमें जो मिथ्या ज्ञान बसा था वह भी आ गया, फिर उत्तर ज्ञान क्यों नहीं उनका ज्ञान करता? मतलब यह है कि सीधी बात मान लो कि ज्ञान खुद प्रमाण है। ज्ञानमें यह तारीफ है, कला है कि वह अपने आपको अपनी योग्यतानुसार, क्षयोपशमके अनुसार, लब्धिके अनुसार उपयोग जोड़-जोड़कर जानता रहता है। न तो पदार्थका आकार आनेसे जानता, न पदार्थसे उत्पन्न होनेसे जनता और न पदार्थके अध्यवसायसे जानता, क्योंकि बौद्धोंका अध्यवसाय तो अनन्तर समयमें होता है तब यह निश्चित हो गया कि ज्ञान ही प्रमाण है। जो ऽवें सूत्रमें कहा जा रहा था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रमाण है उसीका ही यह समर्थन है कि ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान प्रमाण नहीं है।

**सन्निकर्षकी तरह सारूप्यमें भी अर्थाधिगतिशून्यता** देखो सन्निकर्षवादी कहते हैं कि जो कहा था कि इन्द्रिय और पदार्थका भिड़ाव हो तो ज्ञान होता है तो ऐसा भिड़ाव बौद्धोंने भी मान लिया तो बौद्धो तुम भी बोल उठो कि सन्निकर्ष प्रमाण है, बौद्ध कहते हैं कि हम तो न बोलेंगे। हम तो सारूप्यको प्रमाण कहेंगे, सन्निकर्ष प्रमाण नहीं, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष हो जानेपर भी ज्ञान नहीं होता। ऐसा व्यभिचार देखा जाता है तो सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है। तो उसका प्रत्युत्तर यह है कि हे बौद्धजनों! तुम्हारा भी तदाकार तदुत्पत्ति प्रमाण नहीं, तदध्यवसाय भी प्रमाण नहीं, क्योंकि ये तीनों होकर भी ज्ञान नहीं होता देखो जैसे ज्ञानसे जाना स्वलक्षण को। स्वलक्षण यह

प्रमाणका विषय है, याने क्षणिकवादमें यह बताया गया है कि यह खम्भा आदि कोई पदार्थ नहीं है यह झूठ है, जैसे कि स्वप्नमें किसीको चीज दिखती है इसी तरह अज्ञानमें यह चीज दिख रही है। यह सत्य नहीं है, खम्भा है, चौकी है और कुछ है तो यह सत्य नहीं है। तो सत्य क्या है? सत्य तो जिससे मिलकर बनता है खम्भा, वह है। हां-हां तो परमाणु तो सत्य हो गया। तो बौद्ध कहते कि परमाणु भी सत्य नहीं है, किन्तु जिससे मिलकर परमाणु बना है वह सत्य है मायने रूप, रस, गंध, स्पर्श ये हैं सत्य। परमाणु तो झूठ है। होता है ना ऐसा कि भावुकतामें आकर छलांग मारी जाती। परमाणुको भी असत्य कह बैठे। और क्या सत्य? तो शंकाकारका मंतव्य है कि केवल रूप है सत्य, केवल रस, केवल गंध, केवल स्पर्श है सत्य। ज्ञान होता है तो रूपका होता है, रसका होता है। देखो बेचारोंका अधिक अपराध मत समझना। आपको भी ऐसा लग रहा होगा। परमाणु है कहाँ? सब कल्पनाकी बात है। रूप ही रूप है और तो है ही नहीं। आँखसे यह हो तो दिख रहा है और जब जीभसे चखते तब कहते कि बस रस ही रस है दुनियामें और कुछ नहीं, और जब गंध लेते तो कहते कि बस गंध ही गंध है दुनियामें और जब स्पर्श करते तो कहते कि बस स्पर्श ही स्पर्श है दुनियामें। अब रूप, रस अणु, गंध, स्पर्श इकट्ठे हो जायें तो परमाणु बन गया। तो उनका पदार्थ है केवल रूप अणु, रस, गंध अणु, स्पर्श अणु। जैसे ज्ञान होगा तो नीलका ज्ञान, पीतका ज्ञान, उसके साथ यह मत जोड़ें कि नीले खम्भेका ज्ञान। खम्भा तो है ही नहीं, वहाँ तो नील है, पीत है, रस है आदि। यों बोलते हैं, वे हैं स्वलक्षण। सो देखो स्वलक्षण जाना तो उसमें तादात्म्य है क्षणिकत्व का, तो स्वलक्षण ज्ञान कर क्षणिकत्वका अध्यवसाय क्यों नहीं हो जाता तो सारूप्य भी व्यभिचारी है।

**महर्षियोंके प्रखर अवबोधका स्मरण** देखो एक होती है विद्वत्ता और एक होता है ज्ञान, तो विद्वत्ता तो अन्य दार्शनिकोंमें बहुत भरी हुई है और जैनदर्शनमें यहाँ तो सीधी-सीधी बात कही। आप सोचेंगे इसमें काहेकी विद्वत्ता। विद्वत्ता तो उसे कहते हैं कि झूठ हो और सच साबित कर दे। ये जैनाचार्य बेचारे भोले-भाले जैसी बात है, जैसा स्वरूप है वैसा ही कह देते, इसमें काहेकी विद्वत्ता? हां ज्ञान जरूर कह लो। जैनाचार्योंका ज्ञान जरूर है सही, पर विद्वत्ता तो इन अन्य दार्शनिकोंमें है, जिन्हें आप देख रहे हो कि कैसी युक्तियोंसे क्या मंतव्य सिद्ध किए जा रहे हैं। तो शायद आप यह सोच बैठे होंगे कि फिर जैनाचार्योंमें क्या विद्वत्ता नहीं है? अच्छा तो एक बात देखो ऐसी विद्वत्ताका बंटधार जो करे उसमें विद्वत्ता मानी जायेगी कि नहीं? भैया, दार्शनिकोंका विषय बड़ा गम्भीर है। सो यदि सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मानते तो बौद्धके माने गए तदुत्पत्ति तदाकार तदध्यवसाय ये भी प्रमाण नहीं हो सकते।

**तदध्यवसायकी अप्रमाणताको कारणभूत व्यभिचारका प्रदर्शन** देखो जब ज्ञानसे जाना कि यह नील है, अभी देखो इस समय खम्भा वगैराका नाम न लें, क्योंकि बौद्ध मानते नहीं खम्भा को, वे तो नीला, पीला, खट्टा, मीठा आदिक इन्हींको ही पदार्थ मानते हैं, जिसे वे बोलते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श अणु। तो इन अणुओंसे ज्ञान होता है तो पूरा जाननेमें आ गया ना? अब उसमें क्षणिकत्व भी

है। बौद्ध मानते हैं कि सर्व क्षणिकं सत्त्वात्, सब चीजें क्षणिक हैं सत्त्व होने से। देखो जो लोग यह कहते हैं ना कि पर्याय स्वतंत्र है, पर्याय अहेतुक है। उसकी उत्पत्ति पूर्व पर्यायसे नहीं। पूर्व पर्याय तो नष्ट हो गई, वह उत्तर पर्यायको कैसे पैदा करे? यह सब दर्शन बौद्धोंका है और यह बौद्धोंका दर्शन ऋजुसूत्रनयसे निकला है। जो जैनशासनमें बताया है ऋजुसूत्रनय उसका विषय यह है कि पर्याय अहेतुक है, किसी हेतुसे उत्पन्न नहीं होता। अपने समयमें अपने आप हो जाता है, यह ऋजुसूत्रनयका विषय है सो यों क्षणिकवादमें स्वलक्षणमें क्षणिकत्व भी आ गया, उसका बोध करनेको अनुमान बनाना पड़ता है। तदध्यवसाय नहीं हो पाता, अतः सारूप्य अप्रमाण है।

**ऋजुसूत्रनयके विषयका प्रकृत उदाहरण** देखो क्षणिकत्व असत्य नहीं है, ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे सत्य है। मगर कोई उसको ही पकड़कर रह जाये कि बस ऐसा ही है, तो असत्य बन गया। क्योंकि यह एकान्तवाद बन गया। बौद्धसिद्धान्तमें पर्यायका कोई हेतु न होगा, क्योंकि वही एक पूर्णस्वतंत्र सत् है। बौद्धसिद्धान्तमें वही पूरा द्रव्य है। जब पूरा द्रव्य है और क्षणिक है और उसकी संतान मानते नहीं तो अहेतुक विदित होगा ही। पूरा दर्शन कोई समझे तब छोटी बात समझमें आयेगी। जैसे कि बजाज लोग यह तो नहीं सोचते कि जो कपड़ेका कोई एक ही प्रकारका स्टॉक रख लिया जाये, आजकल जो कपड़े चलते हैं उनमेंसे एक रख लो, सो तो गम नहीं खाते। वहाँ तो कई डिजाइनके कपड़े रखेंगे उस स्टॉकको देखकर ही तो एक पसंद आता है तो जैसे वह एक विशाल बोध हो तो थोड़े बोधकी स्पष्टता है। जो बड़े-बड़े होते हैं और बच्चोंको पढ़ानेके लिए मास्टर रखते हैं तो वे यह नहीं सोचते कि बच्चेको अ आ इ ई ही तो सिखाना है सो किसी अपने पड़ोसके अ आ इ ई जानने वाले साधारण पढ़े आदमीको रख दें, किन्तु वे विद्वान ही रखेंगे। उस विद्वानकी कला और तरहकी है। तो पर्याय अहेतुक है, स्वतंत्र है, उसका पूर्वपर्यायसे सम्बंध नहीं, क्योंकि है ही नहीं उस समय में। यह बताया ऋजुसूत्रनय ने। मगर ऋजुनयसे ही जाना अन्य प्रतिपक्ष नयका करें विरोध तो द्रव्यार्थिकनय बन गया असत्य। जब किसीको समझ नहीं होती तो उसे कुछ ख्याल नहीं रहता कि हम क्या कर रहे हैं? पर्याय अहेतुक है, ऐसा एकांत करनेको किसने असत्य बना दिया? द्रव्यार्थिकनयके विरोध ने। सो वह पुरुष कभी द्रव्यार्थिकनयपर जोर देता, और कहीं वही पुरुष द्रव्यार्थिकनयको असत्य सिद्ध करके पर्यायार्थिकनयको पसंद करे। तो जैसे कोई उन्मत्त पुरुष होता तो वह कभी माँको स्त्री भी कहता, कभी माँको माँ भी कहता तो उसका माँ कहना भी सत्य नहीं। ऋजुसूत्रनयका विषय हमने एक परिच्छेदमें लिखा है अध्यात्मसहस्री में। इसका भी ऐसा अभेद है कि जैसा अभेद शुद्धनय या परमशुद्धनिश्चयनयका है। देखो भेदको बताने वाले दो नय हैं एक तो परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनय, संग्रहनय और एक है ऋजुसूत्रनय। अखण्डता दो तरहसे होती है एक तो बहुत बड़ा हो तो अखण्ड और एक ऐसा खण्ड करें, ऐसे टुकड़े करें कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके तब वह भी तो अखण्ड कहलाया। अखण्ड दो तरहसे हुआ करता है। एक तो विशाल अखण्ड और एक इतना छोटा अखण्ड खण्ड कि जिसका दूसरा खण्ड न हो सके तो उसे भी अखण्ड

कहेंगे कि नहीं? तो ऋजुसूत्रनय तो ऐसे अखण्डको कहते हैं कि जो इतना सूक्ष्म खण्ड हो कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके। ऐसा खण्ड क्या है? एक समयकी पर्याय? अब उसमें तुम और क्या भेद डालोगे? आगे जो भेद चलेंगे सो पदार्थकी वजहसे न चलेंगे, शब्दनयोंकी वजहसे चलेंगे तब ही ऋजुसूत्रनयके बाद और जो सूत्र खण्ड करने वाले नय हैं वे शब्दके आधारपर हैं। शब्दनय, समभिरुद्धनय और एवंभूतनय। तो ऋजुसूत्रनय या एवंभूतनयकी ही बात कोई सत्य मानकर रह जाये तो देखो किसीके हो रुईकी दुकान और वह इस दर्शनके नामपर सत्यका ढकोसला लेकर बैठ गया कि हम तो सच ही लेकर बैठेंगे और मानो वह है बौद्ध। अब रुईमें लग गई आग तो अब वह बेचारा बैठा है। अगर बुलाये किसी दूसरेको तो क्या कहकर बुलाये कि दौड़ो बुझावो, रुई जल रही है। वह तो यह सोचकर बैठा है कि हमें तो सच बोलना है। कैसे कहें कि रुई जल रही है? क्योंकि जो रुई है वह जल नहीं रही और जो जल रही है वह अब रुई नहीं रही, तो कैसे कह दें? तो उसकी तो दुकान ही साफ हो जायेगी। यह है ऋजुसूत्रनयका एकान्त।

**प्रतिपक्षनयका विरोध होनेपर विवक्षितनयकी भी असत्यता** भाई भोजन कई प्रकारका है। मिठाई खानेका भी स्वाद ले लो, मना नहीं है, पर थोड़ा नमकीनका भी तो स्वाद ले लो। वहाँ तो ऐसा करते हैं और यहाँ वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनमें ऐसा नहीं चाहते हैं। अभी ऋजुसूत्रनयकी मुख्यतासे बोलो तो कह दो कि पर्याय अहेतुक है। पर्याय अपने आप होती है। कोई दोष नहीं है। जैनशासन कहता है, मिथ्या कोई बात नहीं है, मगर उसीकी हठ न पकड़ो, थोड़ा द्रव्यार्थिकनयसे भी कह दे कि पर्यायका उपादान कारण पूर्व पर्यायसे संयुक्त द्रव्य है। और यह न मानेंगे तो वह भी बिल्कुल सिद्ध न हो। जैनशासन सापेक्ष है, स्याद्वादगर्भित है, अन्यथा याने स्याद्वादको छोड़ दें और अब कुछ भी वर्णन करें तो वहाँ विदित हो जायेगा कि यह बौद्धदर्शनका हिस्सा है, यह ब्रह्मवादका हिस्सा है, यह विशेषवादका हिस्सा है व यह सत्कार्यवादका हिस्सा है और जिन्हें अन्य दर्शनका पता नहीं वे इस मिथ्यादर्शनमें लुभा जाते हैं और यह नहीं जान पाते कि हम स्याद्वादी नाम धराकर भी क्या बोल रहे हैं? तो यह बहुत एक गहन विषय है, नयचक्र बहुत गहरा है ना, और उसमें बड़ी सावधानीकी जरूरत है नहीं तो याने स्याद्वादका आलम्बन छोड़नेपर सारा कथन सत्य होकर भी असत्य कहलाता। किसकी बात असत्य है बोलो? पर्याय अहेतुक है, क्या यह बात झूठ है? झूठ तो नहीं है, मगर द्रव्यार्थिकनयका विरोध है सो झूठ है। अच्छा स्वभाव अपरिणामी है, ध्रुव है, निस्तरंग है और शुद्ध है, यह बात सत्य है कि नहीं? सत्य है, मगर पर्यायदृष्टिका विरोध करेंगे तो असत्य हो गया। सत्य होकर भी यह असत्य होता है, इस बातको स्याद्वाद समझाता कि सत्य सत्य ही रह सके, असत्य न बन जाये, इसकी कला स्याद्वादमें मिलती है।

**तदध्यवसायमें भी प्रमाणत्वका अनियम** ज्ञान किस तरह जानता है, इसके विवेचनमें दार्शनिकोंका संघर्ष हो रहा है। जैनदर्शन तो कहता है कि ज्ञान चूँकि अपनेको जाननेका स्वभाव रखता ही है सो जो सत् है उसके बारेमें स्वयं यह ज्ञान करता रहता है। हां जब ज्ञानका आवरण पड़ा है तो



जितने-जितने आवरणका विगमविशेष है उतना जान पाता है। तो इस समय कुछ लोगोंने यह कहा था कि इन्द्रियाँ पदार्थोंके पास जाती हैं भिड़नेके लिए तब ज्ञान होता है तो बौद्ध जन यह कह रहे हैं कि पदार्थ ही स्वयं अपना आकार ज्ञानमें सौंप देता है तब ज्ञान होता है तो इस विषयमें चर्चा चलनेके बाद वे यहाँ तक आये कि केवल आकार सौंप दे, इतनेसे ज्ञान नहीं, किन्तु जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न होता उस पदार्थको जानता, और इतना भी नहीं, किन्तु जिसका वह बादमें निश्चय करता है उसका ज्ञान होता है। तो तदाकारता, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय ये तीन बातें हों तो ज्ञान जानता है और प्रमाण होता है। इसमें कुछ आपत्तियाँ बतायी गई थीं। अब एक अन्तिम आपत्ति स्पष्ट सुनो इनका यह कहना है कि जिसका अध्यवसाय हो, विकल्प हो, उसके बारेमें उसका ज्ञान होता है, तो सुनो एक है स्वसम्बन्धेन प्रत्यक्ष। चार प्रकारके प्रत्यक्ष हैं इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसिकप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसम्बन्धेन प्रत्यक्ष। स्वसम्बन्धेन मायने क्या है कि यह ज्ञान आने आपका प्रत्यक्ष कर रहा है। ज्ञान स्वयंका अनुभव करता है। तो यहाँ ज्ञान जब ज्ञानका अनुभव करता है तो जिस ज्ञानने जाना और जिस ज्ञानस्वरूपको जाना उस ज्ञानस्वरूपने अपना आकार तो दिया नहीं, क्योंकि ज्ञान ज्ञानको आकार क्या दे? ज्ञानमें आकार रखा ही नहीं है। बाह्य पदार्थ ही नहीं हैं तो आकार दिए बिना जान लिया गया पहला ज्ञान स्वसम्बन्धेन में, तो वहाँ तो तदध्यवसायका नियम न रहा, इसीलिए बात सीधी मानो कि ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अपनी योग्यता माफिक जहाँ उपयोग लगे उस पदार्थका ज्ञान होता है। और भी देखो ज्ञानने अपने आपको आकार लिए बिना जान लिया तो जब अपने आपको बिना आकार लिए जान लिया, तो इन सारे पदार्थोंको बिना आकार लिए ज्ञान जान जाये, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

**ज्ञान द्वारा स्वनिर्णय बिना अर्थनिर्णयकी असंभवता** ज्ञान जानता है, स्वयं जानता है, अपने आपके द्वारा जानता है, उस जाननेमें विषय सत् पदार्थ होते हैं। जो है सो जाना जाता है और वह प्रमाण माना जाता है। देखो जब जानते हैं तो वहाँ दोका जानना चलता है, स्वका और जिस पदार्थको जाना उसका। दोके जाने बिना ज्ञान कहलाता ही नहीं है। जैसे कहते ना कि पहले घरमें संगठन हो तो फिर बाहरमें संगठन बनानेकी बात सोचें। अब अपने घरमें तो चल रही हो आपसमें बहुत लड़ाई और समाजमें करें संगठनका उपदेश, तो बताओ उसका कुछ असर भी होता क्या? घरमें तो फूट हो और समाजमें करें नेतृत्वका दावा तो उसका असर नहीं हो सकता। हर बातमें आप यही बात समझते जाइये। हम खुद तो कषायवान बने हैं और दें शान्तिका उपदेश तो क्या यह ठीक बैठेगा? हम खुद तो अशुद्ध हैं और समझें पर्यायके ढंगसे कि हम तो शुद्ध हैं तो कोई तुक मिलेगी क्या? अरे यहाँ शुद्धताका अर्थ यह है कि हमारा स्वभाव शुद्ध है, स्वभाव विकृत नहीं होता। जैसे पानी गर्म होनेपर भी पानीका स्वभाव गर्म नहीं है, ऐसे ही आत्मा कषायवान होकर भी आत्माका स्वभाव कषाय वाला नहीं है, हां, स्वभावकी शुद्धता है और इसी शुद्ध स्वभावकी दृष्टिके प्रतापसे कषायें दूर होती हैं। तो ज्ञानमें भी यह ही प्रक्रिया है कि ज्ञान स्वका निर्णय रखता है। तब ज्ञानमें

जो जाना गया उसका भी निर्णय पड़ा हुआ है। तो दो बातें आयीं ना...स्वसम्वेदन और अर्थसम्वेदन। स्वका ज्ञान और अर्थका भी ज्ञान।

**ज्ञानवृत्तिके विषयमें दार्शनिकोंके सप्रतिपक्ष विचार** अब देखो कितने ही दार्शनिक ऐसे हैं कि कहते हैं कि पदार्थका तो ज्ञान होता है, मगर स्वका ज्ञान नहीं होता। तो कितने ही दार्शनिक ऐसे हैं कि जो यह कहते हैं कि स्वका तो ज्ञान होता है, पदार्थका ज्ञान नहीं होता, तो देखो इसी बातको जैनशासनमें यों कहा कि व्यवहारनयसे परका ज्ञान और निश्चयनयसे स्वका ज्ञान। व्यवहारनय असत्य नहीं होता, किन्तु उपचार वाला व्यवहार हो तो असत्य होता है। बाह्य पदार्थके बारेमें हमको जानकारी हुई, यह बात असत्य नहीं। यह ही तो व्यवहार कहलाता है। मगर यह ज्ञान उस बाह्य पदार्थका है, ऐसा कहना असत्य है, क्योंकि उपचार हो गया। ज्ञान बाह्य पदार्थमें जाकर जानता हो जाननरूप परिणामाता हो, यह असत्य हो गया, क्योंकि इसमें एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता कह दिया। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता है यह उपचार कथन है और यह मिथ्या है, मगर अर्थको विषयभूत मात्र निमित्त पाकर इसमें यह परिणाम बन गया यह मिथ्या नहीं। यह व्यवहारनय है। होता ही है ऐसा। तो दो बातें आती हैं ज्ञान में (१) स्वका वेदन और (२) पदार्थका वेदन। तो यहाँ शंकाकार यह बतला रहे हैं कि पदार्थका वेदन तो आकार आनेसे प्रमाणभूत है, और स्वका वेदन? तो इसके बारेमें शंकाकार कहता है कि स्वके ज्ञानका स्वरूपमें प्रमाणत्व ही नहीं है। प्रमाणता तो बाहरी पदार्थकी है और यही दुनियाका निर्णय करती है। फिर दुनियाको चूँकि पदार्थोंमें निर्णय करना है, इसलिए पदार्थोंकी ओरसे बात कही। परन्तु यह बात अनुभव बाधित है।

**कषायके वेगकी विडम्बना** देखो कितने ही हठी लोग ऐसे होते हैं कि दिल तो जान रहा है कि सच्ची बात यह है और चूँकि कह आयी बात, इसलिए मिथ्यापर हठ है। ऐसे आपको अनेक उदाहरण मिलेंगे। घरमें मिलेंगे, समाजमें मिलेंगे और दार्शनिकोंमें मिलेंगे। चित्त तो जान रहा है कि सच तो यह है, पर क्या करें? हम इस कुलमें पैदा हुए तो इसकी बात हमें समर्थित करना है अथवा हम इस पक्ष में, इस पार्टीमें दाखिल हुए तो इसकी बात समर्थित करना है। घरमें मान लो स्त्री-पुरुषमें लड़ाई हो गई। अब यहाँ यद्यपि जान रहे हैं कि इसमें हमारा कसूर है, मगर कुछ शान तो रखनी है, पोजीशन रखनी है ना घर में, तो अब कभी ठंडे न बोलेंगे, दूसरेका अपराध बतायेंगे। इसने ऐसा किया। तो ये सब कषायोंके रंग हैं, नहीं तो यदि सब लोग ऐसी ईमानदारी बरतें कि जो भीतरमें समझ रखा हो वैसा ही हम बरतें याने जो भीतरमें समझ रखा हो वैसा ही हम बोलेंगे तो एक भी झगड़ा नहीं है और विपत्ति तो यह है कि समझ तो रहे हैं सही, पर बोलनेमें चूँकि व्यवहार है ना और यहाँ समझ रखा है संसार। तो वहाँ मिथ्या बोल आया तो मिथ्या बातकी हठ करेंगे।

**दुर्लभ मानव-जीवनमें आत्मसावधानीका मूल्यांकन** प्रायः दो हजार सागरमें त्रस पर्याय रहती है, इससे अधिक नहीं रहती त्रस पर्याय और उस त्रस पर्यायमें बहुत कम भव मनुष्यके मिलते हैं। आज दुर्लभतासे यह मनुष्यभव मिला और इस मनुष्यभवमें ही कुछ पुराने भवोंकी गलती दुहराते रहे, जो

पूर्वभवमें गलती करते आये। क्रोध करना, घमंड करना, मायाचार रखना, लोभ रखना, ममता रखना, अज्ञान रखना। और यह ही बात इस भवमें कर ली तो यह दुनिया क्या है? १६७॥ लाख कुल कोटि देह वाले अनन्त जीव, इतने प्रकारके जीव पाये जाते हैं, इनमें जन्म-मरण होगा, अगर इस मनुष्यभवमें अपना सुधार न किया यहाँ तो मर रहे थोड़ेसे पैसों पर, और मान लो यहाँसे मरकर बन गए कीड़ा-मकौड़ा या कुत्ता, बिल्ली, सूकर आदि तो फिर कहाँ यह शान रह पायेगी? अरे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति हो तो जिनेन्द्र देवका जो सत्य मार्ग है उसपर दृष्टि दें, अन्यथा यदि जीवनको बरबाद कर दिया तो सहारा कोई किसीका नहीं है, दुःख ही भोगेगा। जब यह जीव नरकमें जन्म लेता है और उसे कुछ ज्ञान होना है, ज्ञान तो अवधिज्ञान सभी नारकियोंके है, जो मिथ्यादृष्टि है उसके कुअवधिज्ञान और जो सम्यग्दृष्टि है उसके अवधिज्ञान। तो वहाँ ज्ञानी नारकी सोचता है कि हाय जिनके लिए हमने इतना अन्याय किया वे यहाँ कुछ भी हमारा साथ नहीं दे रहे। हमको अकेले ही सब दुःख भोगने पड़ रहे हैं। अगर स्याद्वादसे सम्मत रखा तत्त्व ज्ञान और मंदकषायका रखा व्यवहार तो जीवन सफल ही समझिये।

**ज्ञानकी चर्चाके प्रसंगमें शंकाकार द्वारा संवेदनके स्वरूपमें अप्रमाणत्वका प्रस्ताव** यहाँ चर्चाकी जा रही है ज्ञान की। हम आप सब ज्ञानमय हैं। तो ज्ञानकी ही यहाँ चर्चा चल रही है। ज्ञान स्वको जानना और अर्थको जानना, और यह ज्ञान स्वके जाननेमें तो प्रमाण ही रहता है, प्रत्यक्ष ही रहता है, स्पष्ट है। चाहे पदार्थकी जानकारी स्पष्ट न हो, मगर ज्ञानको ज्ञानके जाननेकी जानकारी तो स्पष्ट ही रहती, किन्तु यहाँ शंकाकार कहता है कि स्वसंवेदन स्वरूपमें प्रमाण नहीं है, वह तो उपचारसे प्रमाण है, व्यवहारसे प्रमाण है, और देखो शंकाकार ही कह रहा है कि शास्त्र कोई प्रमाणकी चीज थोड़े ही है। शास्त्रोंका तो इतना प्रयोजन है कि मोह हट जाये। इससे आगे और कुछ मतलब नहीं। (समझना शंकाकारकी बात है) और यों कभी-कभी कोई उपन्यास पढ़ो तो उसमें भी ऐसी कोई किरण जगती है कि मोह दूर हो जाता है, कुछ देरको तो दूर हो ही जाता है। जब उपन्यासमें चर्चायें आती हैं कि वह तो उससे इतना प्रेम करता था, पर उसने उसको प्राणघातक धोखा दिया। तो जब पढ़ रहे यह बात तो उस समय दिल कहता है कि कुछ सार नहीं सब धोखेबाज हैं। तो लो उस उपन्यासके अध्ययनके द्वारा भी मोह हट गया कुछ देरके लिए तो ऐसे ही शास्त्रोंको भी उपन्यास जैसा समझ लो, क्योंकि उनका काम मोह हटाना है। ऐसे ही इस स्वके जाननेमें कोई प्रमाणता नहीं है। देखो कैसे-कैसे मंतव्य उठा करते हैं तत्त्वके निर्णय में।

**स्वसंवेदनमें स्वरूपप्रमाणत्व व आगमका प्रमाणत्व** अब वहाँ शास्त्रकी प्रमाणता अगर देखें तो चूँकि ये सब आगम अरहंत देवके मूल दिव्यध्वनिकी परम्परासे चले आये हैं, इसलिए ये तो पक्के ही प्रमाण हैं, पर हम आपकी बुद्धि यह सर्वथा प्रमाण नहीं है। अभी कुछ दिन बाद एक विषय बहुत उत्तम निकलेगा कि जितने भी ज्ञान हम आपको देते हैं, इनमेंसे कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं जो पूरा प्रमाण हो या पूरा अप्रमाण हो। यह विषय चलेगा बड़ी स्पष्टतासे तब आँखें खुलेंगी कि हम न कुछ

पाये हुए ज्ञानपर गर्व करते हैं, और उसमें दम क्या? यहाँ प्रकरण यह है कि क्षणिकवादी दार्शनिक यह कह रहे हैं कि स्वसम्वेदनमें अपने आपकी समझके लिए प्रमाणताकी जरूरत नहीं होती। वह तो उपचारसे प्रमाण है। तो पहली बात तो यह ही देखें कि यदि यह उपचारसे है तो कोई मुख्य नहीं हो सकता है। और सभी-के-सभी यदि उपचारसे हो जायें तो मुख्यका अभाव हो गया, फिर तो कोई व्यवस्था न बनी।

**प्रमाणके अपलापकी अशक्यता** शंकाकार दार्शनिक यह बतला रहे हैं कि देखो प्रमाण कोई एक चीज नहीं है। कहीं अक्षरोंको प्रमाण मानते, कहीं गवाहको प्रमाण मान बैठते, तो कहीं कब्जाको प्रमाण मान बैठते। तो प्रमाणका कोई आधार ही नहीं है। जिसके मनमें जो आया सो मान लेता है। तो प्रमाण कोई चीज ही नहीं। किसका सूत्र लगाये फिर रहे 'तत्प्रमाणे' जब कोई प्रमाण मुख्य तत्त्व ही नहीं, तो चर्चा किसकी? चीज रहे तो चर्चा करो, ऐसी एक आपत्ति दार्शनिक दे रहे। मगर उत्तर स्पष्ट है कि अपने-अपने अंदरमें किसको ज्ञान नहीं है और किसको ज्ञानका बोध नहीं है? सब ज्ञानी हैं, सबको सही बोध होता है, सब समझते हैं, पर कषाय साथमें ऐसी लगी कि जैसी समझ बनी है वैसी कहनेमें डरते हैं। देखो सब जगह बात है ऐसी। घरमें देखो जो बहुत लड़ता है, समझते हैं सब सास-बहूकी लड़ाई, देवरानी-जेठानीकी लड़ाई, क्या समझते नहीं हैं सब बातें? किसका अपराध है, यह समझते हैं, पर कषायें ऐसी लगी हैं कि सही बातको आलेमें रख देते हैं। ये कषायें इस जीवको बरबाद करने वाली हैं। यदि अपने आपका उद्धार चाहिए तो कषाय विषको दूर कर दो तो यह ज्ञान आपको सन्मार्गकी ओर ले जायेगा। अब यह कषायसहित होनेसे कृत्रिम कथन पुष्ट बन गया। जैसे कोई दुष्ट घोड़ेपर सवार हो तो वह तो खोटी जगहमें ले जायेगा, पर यदि उसकी लगाम लगा दी जाये तो उसको लगामके उपायसे सन्मार्गमें लाया जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान तो हमारे पास है, पर इन कषायोंका विष हटा दें तो इस ज्ञानको सन्मार्गमें लाया जा सकता है।

**संवेदनके पूर्वमें स्व और अर्थ दोनोंको उड़ाकर संवेदनाद्वैतका भागनेका प्रयास** यहाँ यह चर्चा चल रही है कि ज्ञान जो जानता है सो वहाँ दो बातें समझमें आती हैं एक तो ज्ञान खुद अपनेको जान रहा, दूसरी बात पदार्थको जान रहा है, ये दो बातें सबके अन्दर होती हैं ना? सबको अनुभव है। तो यहाँ दो बातें हुई स्वसम्वेदन और अर्थसम्वेदन। संवेदनके मायने ज्ञान। इस प्रकरणमें सम्वेदन शब्द आये तो उसका अर्थ ज्ञान समझना। तो ज्ञानके सम्बन्धमें दो बातें होती हैं ना? स्वसम्वेदन और अर्थसम्वेदन; अर्थात् ज्ञान खुदको भी जान रहा है और पदार्थको भी जान रहा है। तो अभी तक तो कुछ यह संघर्ष चल रहा था कि कोई दार्शनिक तो यह कहता है कि ज्ञान या इन्द्रियाँ अर्थके पास जाती हैं, तब कोई यह कह रहा था कि अर्थ या अर्थका आकार ज्ञानमें आता तब अर्थ जाना जाता। अब तीसरी बात कह रहे हैं कि न तो ज्ञान स्वको जानता है और न ज्ञान परको जनता है, किन्तु ज्ञान ज्ञान ही रहता है, इसे कहते हैं सम्वेदनाद्वैत। ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत ये सब इसी तरहके कुछ फर्क ले ले करके दर्शन हैं। ज्ञान, बस ज्ञान हो रहा, जनन है, किसका जनन

है? तो न ज्ञानका जानना है, न पदार्थका जानना है। ऐसा सम्वेदन अद्वैत मान लें तो सारे झगड़े मिट जायेंगे। शंकाकार कह रहा ऐसा मौन लेनेपर न तो आकारका झगड़ा रहा और न इन्द्रिय पदार्थके पास जाये इसका झगड़ा रहा और न प्रमाण अप्रमाणका झगड़ा रहा। न कोई प्रमाण है, न कोई अप्रमाण है, बस एक सम्वेदन मात्र है। ज्ञान ही ज्ञान है, जानन ही जानन है। देखो लग रहा होगा ऐसा कि यह दार्शनिक क्या कह रहा है कि कुछ है ही नहीं और न किसीका जानना बन रहा। केवल जानन ही जानन तत्त्व है।

**संवेदनाद्वैतकी ओर विशेष बढ़ जानेका संभावित प्रथम आधार** अच्छा देखो सब दार्शनिकोंको अपना मित्र समझो। किसीको बैरी विरोधी या घृणास्पद समझकर उसकी चर्चा न करो तो अपनेमें कुछ मिलेगा। अपनेको तो तत्त्व मिलनेसे मतलब है। देखो उसकी बुद्धि किस ओर गई थी या किसीने कुछ कोई तथ्यकी बात सुन रखी थी, जिसपर कि यह सम्वेदनाद्वैतका आग्रह करके रह गया। अच्छा आप अपने स्वानुभवकी स्थिति तो बतलाओ। स्वानुभवमें किसीपर पदार्थका ख्याल है क्या? नहीं है। तो स्वानुभवमें खुदका भी ख्याल है क्या? नहीं है। देखो अगर ज्ञानमें खुद आत्माका ख्याल रहे तो वहाँ अन्तर रहता है, भेद रहता है, निर्विकल्प स्वानुभूति नहीं कहलाती। इस तथ्यको तो दूसरे ज्ञानी लोग बता रहे हैं निर्विकल्प स्वानुभव करने वालेकी स्थितिके विषयमें खुद इस विकल्पमें नहीं है। तो ऐसा जब एक निर्विकल्प स्वानुभव होता है उस स्थितिका वर्णन हो रहा होगा। आचार्य महाराज इस स्वानुभवकी स्थितिको बड़ी एक निर्विकल्प पद्धतिसे कह रहे होंगे। तो किन्हीं सुनने वालोंके चित्तमें आया कि हां बात तो यह ही है। यह ही सार है। तो इसमें इतना बढ़ गये कि इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। अरे जब स्वानुभवमें हैं तो वहाँके लिए यह ही बात है, मगर जब विकल्पमें आ गए, घर-गृहस्थीमें हैं, व्यवहारमें हैं, यहाँ-वहाँकी बात सुन रहे और यहाँ इस सम्वेदनाद्वैत रटन लगावें तो यह असत्य हो जायेगा।

**वस्तुस्वरूपके विषयमें सत्य व असत्यके न्यायकी कुंजी** भैया! एक ही कुंजी है सबके न्याय की। चाहे जैन दार्शनिक हो, चाहे जैनमें और कोई कुछ उत्पन्न हो गया हो, सबके न्यायकी एक ही कुंजी है। जो तुम कहते हो सो सत्य है उसे हम झूठ नहीं कहते, पर साथ जो प्रतिपक्षनय है उसका जो विषय है, उसे यदि तुम नहीं मानते तो तुम्हारी बात झूठ है और प्रतिपक्षनयका विषय भी मानते हो तो उसे कहते रहो सच है। एक ही कुंजी है, सबपर घटा लो। जैनों पर, मतभेद करने वालोंपर तो घटता ही है, पर अजैन दार्शनिकोंपर भी घटा लो। देखो जब मनुष्य हैं, विद्वान हैं, ज्ञानवान हैं, बड़ा ऊँचा बोध पाये हैं, अनुभव पाये हैं, तो किसीकी कुछ भी जानी हुई बात सर्वथा असत्य तो हो नहीं सकती। वस्तुस्वरूपके सम्बन्धकी बात, मजहबकी बात नहीं कह रहे। मुसलमानी मजहबमें तो कहते हैं कि खुदाके नामपर बकरा मारो, मेढ़ा मारो आदि तो ये क्रियायें असत्य हैं, पर वहाँ भी मूल तथ्य देखो। कैसा, सो सुनो जब किसी समय उनके पैगम्बरोंने कहा कि देखो जिसको तुम सबसे प्यारा मानते हो उसकी बलि कर दो, कुर्बानी कर दो। तो जरा बताओ तो सही तुम्हें सबसे प्यारा क्या

लगता? किसीने कहा ज्ञान। तो ठीक है, ज्ञान तो ज्ञानियोंको प्यारा है, पर अज्ञानियोंको कह रहे कि उन्हें सबसे प्यारा क्या लगता? कोई कहेगा कि हमें तो सबसे प्यारा लड़का लगता, कोई कुछ बतायेगा, कोई कुछ, पर ये कुछ प्यारे नहीं होते, क्योंकि अपने प्राणोंपर कभी नौबत आ जाये तो फिर उन पुत्रादिक प्रिय चीजोंकी भी उपेक्षा करके अपने प्राणोंकी रक्षा करेंगे। तो अज्ञानियोंको सर्वाधिक प्रिय है कषाय। खूब अनुभव करके भी देख लो, इन कषायोंके पीछे तो लोग अपनी आत्महत्या कर डालते हैं। तो सबसे अधिक प्यारी हुई कषाय। तो पैगम्बर साहब कह रहे हैं कि जो सबसे प्यारा हो उसकी बलि कर दो। तो हमें तो सबसे प्यारा लड़का है उसकी बलि कर दें। तो मजहबमें भी अगर कोई बहुत घुसकर एक जड़ पकड़े तो जिसने चलाया होगा उसने मूलमें कोई न कोई सार बात कही होगी। दर्शनमें और वस्तुस्वरूपमें तो बिल्कुल स्पष्ट है।

**संवेदनाद्वैत तथ्यकी मीमांसा** यहाँ सम्वेदनाद्वैतवादी कहते हैं देखो दो बातें मान रहे हो तुम अर्थसम्वेदन और स्वसम्वेदन। तो देखो भाई तुम अर्थ सम्वेदन मेंसे तो अर्थ निकाल दो और स्वसम्वेदन मेंसे स्व निकाल दो तो क्या रह जायेगा? संवेदन। अपना केवल एक संवेदन ही तत्त्व है। न वह स्वको जानता, न पदार्थको जानता, न प्रमाण है, न अप्रमाण। सब झगड़ा मिट गया, आरामसे बैठो। देखो भैया! मिथ्या उपदेशकी बात बड़ी जल्दी सुहा जाती है, क्योंकि उसमें कुछ कठिनाई नहीं। भोगोंकी भी छुट्टी और कुछ ज्ञान और दिमाग लगानेकी भी जरूरत नहीं। तो यह सिर्फ संवेदनाद्वैत ही सुहा गया होगा। ये कहते कि जिन्दगी खूब मौजसे बिताओ। किसी बाहरी पदार्थकी सत्ता भी नहीं। बस सम्वेदन सम्वेदन, जो न खुदको जानता, नपर को, लेकिन इसपर विचार करो तो यह तत्त्व सिद्ध ही नहीं है। इसके सम्बन्धमें थोड़ा पहले बताया था और अब थोड़ी बात सुनो। अच्छा बताओ सम्वेदनाद्वैतवादी, तुम जो कह रहे हो वह सत्य है कि असत्य? अगर कहो कि सत्य है तो सिद्ध हो गया कि तुम्हारी बात प्रमाण है। प्रमाण तो मान लिया। अभी तो प्रमाणको भी इन्कार करते थे कि प्रमाण नामकी कोई चीज नहीं और अगर कहो कि हमारी बात झूठ है तो तुम्हारी बात अप्रमाण है। अप्रमाण बन गया अर्थात् सम्वेदनाद्वैत न रहा।

**खरविषाणवत् शून्य संवेदनाद्वैतकी अप्रयोजकता और असिद्धि** अब यहाँ शंकाकार कहता है कि हमारा तो यह सिद्धान्त है कि वह न तो सत्य है, न असत्य है, न प्रमाण है, न अप्रमाण, न स्वको जानता, न परको जानता। सर्वविकल्पोंसे अतीत है वह सम्वेदन, देखो ऐसा सम्वेदन ऐसा अनुभव विकल्पसे अतीत तो जैनशासनमें भी कहा, प्रमाणनय निक्षेपसे अतीत है, भेदरहित है, तरंग नहीं है। समाधानमें सोचिये कहा तो है, मगर इसीपर डटकर नहीं रह सकते। बताया है कि भाई वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, स्वभावदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। जैसे कोई इस खम्भेको देख रहा है कि यह खम्भा सामनेसे आधा भाग तो दिख रहा, मगर आधा नहीं दिख रहा, आधेसे अधिक तो दिख जाता है ना? अब कोई यह कहे कि यह तो इतना ही है, यह खम्भा ऐसा है तो यह बात सच है कि झूठ? है तो सच, मगर पीछेके भागको कहा झूठ तो यहाँका देखना भी झूठ। एक हाथ है यह,

तो इसमें एक तरफ तो गदेली है, देखिये और उसके दूसरी तरफ बाल हैं। अब कोई गदेली वाले भागको देखे और उसे तो कहे कि यह है तो, यह तो सच कहा, मगर रोम वाले भागको कहे कि नहीं है तो उसकी गदेली वाली भी बात झूठ रही। तो यह एक कुंजी है जैनशासनका निर्णय निकालने की। यहाँ हथेलीका दृष्टान्त देनेपर एक कथा याद आ गई कि एक सभा भरी हुई थी। उसमें बादशाह अकबर और उसका मंत्री बीरबल ये दोनों भी वहाँ बैठे हुए थे। वहाँ अकबर बादशाहने पूछा, बताओ बीरबल हमारी गदेलीमें रोम क्यों नहीं हैं? तो बीरबल बोला महाराज आपने अपने हाथसे इतना अधिक दान दिया कि दान देते-देते सारे रोम घिस गए। अच्छा यह तो ठीक कहा, पर यह बताओ कि तुम्हारी गदेलीमें रोम क्यों नहीं हैं? महाराज आपने दान दिया, हमने दान लिया तो लेते-लेते हमारी गदेलीके रोम घिस गए। अच्छा और जो ये सभामें सभी लोग बैठे हैं उनकी गदेलीमें रोम क्यों नहीं हैं? महाराज आपने दान दिया, हमने दान लिया और ये सब सभाके लोग यों ही हाथ मलते रह गए इस कारण हाथ मलते-मलते इनकी गदेली मेंसे रोम झड़ गये हैं। तो देखिये यहाँ स्याद्धादकी बात कह रहे हैं। ऐसा स्पष्ट सिद्धान्त है और अपने चित्त को, अपने ज्ञानको इतना उज्ज्वल बना लें कि कहीं कोई शंका ही न रहे, और आपके सब मित्र बन जायेंगे, आपकी निगाहमें कोई विरोध रहेगा ही नहीं। और देखो जो जैसा कहता है और प्रतिपक्षनयको असत्य कहकर उतनी हठमें रहता है तो हमें तो विरोध नहीं, पर वे खुद अपने ही पैरमें कुल्हाड़ी मारते हैं तो उनका ही तो बिगाड़ है, हमारा आपका बिगाड़ तो नहीं। हम आप तो स्याद्धाद विधिसे सब तत्त्वोंका ज्ञान करके सबके साथ मित्रता बनाये हुए हैं। हमारे तो बौद्ध भी मित्र हैं, वैशेषिक भी मित्र हैं। तत्त्वके बारेमें निर्णय करनेको चले तो देखो उनका अन्तः आशय उनकी बुद्धि गई तो इस ओर कि मोह मिटाना है, संसारसे छुटकारा पाना है। सबका ध्यान यह ही तो था, लेकिन अब थोड़ी-सी मार्गकी गलती हो गई, सच बोलकर भी झूठे हो गए। तो समझो स्याद्धादकी कितनी बड़ी देन है? जीवनको शान्त बना दे, निराकुल बना दे और स्पष्ट बना दे। सो विधि तो तत्त्वज्ञानकी यह है।

**मत्ताका बीज मतान्धता** शंकाकार यहाँ यह कह रहा कि हम तो ऐसा सम्वेदन मानते कि जो न सत्य है, न असत्य, न प्रमाण है, न अप्रमाण, न स्वको जानता, न परको तो फिर उत्तर यह है कि इसकी बुद्धि ठीक बनानेके लिये किसी चिकित्सालयमें भेजना चाहिये। वरना जहाँ कोई युक्ति नहीं, जहाँ अनुभव भी काम नहीं देता और अपना मनमाना तत्त्व बन रहा हो तो उससे सिद्धि क्या बनेगी? भला अनवस्थित तत्त्वसे क्या कोई सिद्धि हो सकती? यों तो हम कह देंगे कि गधेके सींग भी होते। तो गधेके सींगसे और तुम्हारे अनवस्थित तत्त्वमें क्या विशेषता रही? केवल एक मान रहे सम्वेदनमात्र, ज्ञानमात्र, न उसका आधार ब्रह्म रहा, न उसकी तरंग रही, न उसका कार्य रहा। देखो अद्वैतवाद अनेक होते हैं। ब्रह्माद्वैतवादका तो तीसरा, चौथा नम्बर समझिये याने ब्रह्मवाद, संवेदनाद्वैतवादसे विशुद्ध अद्वैतवाद नहीं है जितना विशुद्ध अद्वैतवाद प्रतिभासाद्वैत है, यह हुआ सम्वेदनाद्वैत, प्रतिभासाद्वैत, जिसमें कुछ ज्ञान ही नहीं है, और नाम धर दिया ज्ञान का। उसके बाद

जब कुछ ठिकाने आये तो चलो ज्ञानाद्वैत चेतना तो माना, मगर ज्ञानमात्र है, और कुछ नहीं है। तो तब यह आशंका होती कि वह प्रतिभास, वह ज्ञान, उसका कुछ आधार तो होगा, तो आयेगा ब्रह्माद्वैत, उनके भी नाना बन गए सम्वेदनाद्वैतवादी। एक ज्ञानमात्र तत्त्व है, जिसका न कोई काम है, न किसीको जानता है, न परको जानता है, किन्तु ज्ञान नामका ज्ञान है ऐसा अवस्थित तत्त्व तो खरविषाण जैसी बात हो गई याने असत् और इसमें कोई फर्क नहीं। तो शंकाकार कहता है कि कैसे नहीं फर्क है? एक यह संवेदनाद्वैत ज्ञानाद्वैत यह प्रकाशमान है, प्रतिभासस्वरूप है। अच्छा प्रतिभासस्वरूप है तो क्या वास्तवमें है? अगर कहो कि हां वास्तवमें है तो प्रमाण बन गया, तो तुम प्रमाणको मना कैसे करते? और कहो कि नहीं है तो खत्म हो गया।

**शुद्ध सम्वेदनकी अलौकिक अनुभूति होनेपर भी अर्थावबोधोधात्मकता** देखो चारों तरफके ख्याल छोड़कर, अपने देहका भी भान छोड़कर, अपने भीतरमें जो ज्ञानस्वरूप जाग रहा है उस ज्ञानस्वरूपमें जो अनेक बातें समझमें आती हैं उन्हें भी भूलकर एक ऐसे तत्त्वपर जाइये जहाँ केवल प्रतिभास-प्रतिभास ही रहे और देखो ऐसी स्थिति बन तो जाती है कि केवल प्रतिभासमात्र हो, मगर वहाँ भी आनन्द आता कि नहीं आता। विलक्षण आनन्द, अलौकिक आनन्द न हो तो फिर ज्ञान बिल्कुल आ ही नहीं सकता। वहाँ ज्ञान चमक रहा है, भीतरमें जग रहा है जिस ज्ञानका यह स्वाद लेता है, पर यह सम्वेदनावाद तो सबको ही मना करता है एक तरफ से, कोई नास्तिक नाम न धर दे, इसलिए नाम रख दिया सम्वेदनाद्वैत। यदि यह सम्वेदन संवेदनका आकार लिये बिना संविदित हो जाता है तब क्या बात सिद्ध हुई कि देखो जैसे तुम्हारा सम्वेदन, यह ज्ञान इसमें कोई आकार तो न आया, खुदका भी आकार न आया, मायने ज्ञानमें ज्ञानका आकार न आया और फिर भी ज्ञानने ज्ञानको जान लिया। तो इन सब पदार्थोंमें भी यह ही बात लगा लें कि ये सारे पदार्थ बिना आकार सौंपे, ये ज्ञानमें आते जावें। तब सिद्धान्त निकल आया कि ज्ञान है और उसका जानना काम है और वह काम ऐसा ही है कि इसमें अर्थ विकल्प है और यह खुदको समझता है व अन्यको जानता है। रत्न है जैसे, वह तो स्वयं चमकदार है, प्रकाशमान है। ज्ञान है स्वयं प्रकाशमान, वह तो जानता ही रहेगा, उसका जानना कौन मेटेगा? इसका नाम आत्मा रखा गया है। आत्माका अर्थ क्या है? जो निरन्तर जानता रहे उसको कहते हैं आत्मा। 'अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा।' आत्मा अत् धातुसे बना है। अनादिसे लेकर अनन्तकाल तक निगोदसे लेकर सिद्ध भगवान तक जो-जो भी दशा बनती हैं कहीं भी बतलावो यह आत्मा जाने बिन रहा क्या? निगोदमें था तो जानता था, यहाँ है तो जानता है। सिद्ध हो गया तो जानता है। तो यह तो एक चमकदार रत्न है तुम रूमालमें छिपा लो तो वहाँ भी प्रकाशित है, सामने धर दो तो वहाँ भी प्रकाशित है, बैट्री जला दो, अब उसके ऊपर काठ रख दो तो भी वह अपनेमें प्रकाशित है, आवरण हटा दो तो वह प्रकाशित है। ज्ञान तो सतत् जाननहार है। देखो अपना सर्वस्व धन यह ही है, इसके अतिरिक्त अपना और कोई धन नहीं। जरासी जिन्दगीमें इन बाहरी पदार्थोंको धन मान-मानकर यह जीवन पापमें बिताया जा रहा है, तो क्या



सिद्धि मिलेगी? काम नहीं चलता गृहस्थी में। तो समझ लो कि यह गुजारेका स्थान है, पर यह मेरा कुछ है नहीं। मेरा धन तो ज्ञानस्वरूप है तो इस प्रकार यहाँ तक यह बात सिद्धकी जा रही है कि सम्वेदन पदार्थका आकार लिए बिना जानता है। जैसे कि संवेदन अपने आपके ज्ञानका आकार लिए बिना जानता है।

**ज्ञानाकारताके समर्पणकी मान्यतासे भी सारूप्यमें प्रमाणत्वकी सिद्धिका अनवसर** उक्त समाधान सुनकर शंकाकार कहता है कि हम तो इसको भी निराकार न कहेंगे। ज्ञान जब ज्ञानको जानता है तो ज्ञानमें ज्ञानका आकार आ जाता है और फिर उस ज्ञानाकारका जो ग्रहण है वह उसका फल है, तो कहते हैं कि इसमें तो अनवस्था है, मायने इस ज्ञानने पूर्व ज्ञानका आकार लेकर पूर्व ज्ञानको जाना तो यह ज्ञान दूसरे ज्ञानको अपना आकार सौंप देगा। तब जाननेमें आयेगा। वह दूसरा ज्ञान किसी तीसरे ज्ञानको अपना आकार सौंप दे तब जाननेमें आयेगा। तो ऐसा अनवस्था दोष हो जायेगा। तो ज्ञानाकारताके समर्पणसे सारूप्यका प्रमाणत्व सिद्ध न हुआ। यह ही बात प्रमाणित है कि ज्ञान जानता है, अपनोंको जानता है, पदार्थको जानता है, बिना आकार लिए जानता है। अब रही व्यवस्थाकी बात। जैसे कि तुम यहाँ कहते कि नियम कैसे बने? हमारे इस ज्ञानने खम्भाको जाना और दूसरेको नहीं जाना। तो देखो इसका नियामक है लब्धि और उपयोग। जिन-जिन पदार्थोंके ज्ञानावरणका क्षयोपशम है वह है लब्धि और जिस पदार्थके जाननेके लिए हम उपयोग जुटाते हैं वह है उपयोग। तो लब्धि और उपयोग एक नियम बना देते हैं कि इस ज्ञानने इस ही पदार्थको जाना, अन्यको नहीं जाना, यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई। अब आगेका प्रकरण प्रमाणता व अप्रमाणताके आधारपर आयेगा और बहुत स्पष्ट होगा। हम आपका ज्ञान कोई सर्वथा प्रमाणभूत है क्या? यह बात बतायी जायेगी कि केवलज्ञान होनेसे पहले बढ़ियासे भी बढ़िया ज्ञान हो तो भी उसमें कोई न कोई अंश अप्रमाण रहता है। प्रमाणमें तो एक केवलज्ञान है सर्वथा। इस बातका वर्णन दार्शनिक विधिसे युक्तियों द्वारा न्यायशास्त्रके अनुसार चलेगा।

**प्रमाणत्व व अप्रमाणत्वकी व्यवस्थाका आधार** तत्त्व निर्णय करनेका उपाय है प्रमाण और नय। तो क्यों जी, तत्त्व निर्णय करनेके उपायकी अगर हम अधिक समझ बना लें तो यह कामकी बात है या गैर कामकी बात है? जिन उपायोंसे हम तत्त्वकी परीक्षा करेंगे उन उपायोंको हमने भली-भाँति न समझा तो परीक्षामें गलती होगी। अगर वस्तुका निर्णय सुपरीक्षित बनाना है तो जाननेके उपायोंके बारेमें भी अधिकाधिक बोध होना चाहिए। तत्त्व ज्ञानके उपाय हैं प्रमाण और नय। प्रमाणका क्या है? ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि जो हितकी प्राप्ति कराये और अहितसे हटा दे इन दोनों कामोंमें जो समर्थ हो वह ही मेरेको प्रमाण है। बोलो हितकी प्राप्ति कौन करायेगा? ज्ञान, और अहितसे कौन हटायेगा? ज्ञान। इस ज्ञान प्रमाणके बारेमें प्रकरण चल रहा है। यह ज्ञान है ५ विशेषों रूप मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। यह प्रकरण सम्यक्का है, सम्यग्ज्ञानका है। इसलिए पाँचोंके पाँचों ज्ञान ही सम्यक् हैं, यहाँ यह परखना है। मगर ये ५ भेद हुए ना! तो जब

सब प्रमाण हैं तो ये ५ भेद क्यों किए? प्रमाण तो सब एक किस्मके होने चाहिये थे। तो यह भेद ही यह बतलाता है कि ज्ञान अपने-अपने नियत बातमें प्रमाण है, सब बातोंमें प्रमाण नहीं है, सिर्फ केवलज्ञान ही सर्वथा प्रमाण है पूर्णरूपसे और शेष चार ज्ञान हैं वे अपने विषयमें प्रमाण हैं और अन्य विषयमें प्रमाण नहीं हैं। अच्छा तो प्रमाणका फिर लक्षण क्या हुआ? अब देखो ये ज्ञान प्रमाणरूप भी हो गए और अप्रमाणरूप भी हो गए। जैसे आमके रसको चखा, स्वाद आया, तो स्वादके लिए तो हमारा ज्ञान प्रमाण बन पाया, पर रूपके लिए वह प्रमाण नहीं बन सकता। अंधेरेमें आम खा रहे, स्वाद मीठा आया तो रसका तो ज्ञान बन गया प्रमाण, मगर रूपका ज्ञान? अंदाज तो बन गया कि ऐसा कुछ पीला-सा है, मगर उसका प्रमाणभूत ज्ञान नहीं है। तो केवलज्ञानसे पहलेके ज्ञान नीचेके ज्ञान सर्वथा प्रमाणभूत नहीं हो पाते, तब फिर प्रमाणकी व्यवस्था क्या है? जिस-जिस विषयमें अविसम्वाद है, विवाद नहीं है उस-उस विषयमें प्रमाण है।

**स्वभावदृष्टि व पर्यायदृष्टिके निर्णयका उपयोग** देखो अपनी उन्नतिके लिए कई प्रकारके रंग लाने पड़ते हैं। स्वभावदृष्टिसे देखें तो मैं परिपूर्ण हूं, स्वतः सिद्ध हूं, यह ध्यानमें आया और जब पर्याय दृष्टिसे दिखाना देखा तो यह मनमें आया, ओह केवलज्ञानसे पहले तो यह कुछ नहीं है, सब अधूरापन है। होता क्या है कि किसी कार्यमें उमंग होती है तो कार्यमें प्रगति होती है। तो कुछ तो हों प्रशंसा करने वाले और कुछ हों निंदा करने वाले तब प्रगति बढ़िया बनती है। अगर सब प्रशंसक ही प्रशंसक हों तो प्रगति नहीं बन पाती और निन्दक ही निन्दक हों तो भी प्रगति नहीं बन पाती। तो ऐसे अपने आपके आत्माका हम विकास करते हैं। तो देखो स्वभावदृष्टि करके हमने अपने उपयोगमें अपनी प्रशंसा पायी। बहुत ठीक, यहाँ कष्ट ही नहीं, घबरानेकी बात नहीं, यह तो एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है। और जब उपयोगको देखा तो निन्दाकी बात आयी। अरे कषाय बसी है, वासना बसी है, चित्त डोल जाता है, यहाँ-वहाँ लग जाता है। तो उस निन्दासे भी हमको उमंग आयी कि इससे तो हटना चाहिए और उस प्रशंसासे भी हमको उमंग आयी कि इसमें बढ़ना चाहिए। यह स्थिति चल रही है हम आपकी तो अब यहाँ देखिये प्रमाणकी व्यवस्था है? जहाँ-जहाँ विसम्वाद नहीं उसको प्रमाण कहते हैं और जहाँ विसम्वाद हो उसे अप्रमाण कहते हैं।

**अनेक दर्पणोंमें या अनेक पात्रस्थ जलोंमें अनेक चन्द्रबिम्बरूप पर्यायोंकी चन्द्रपदार्थसे भिन्नता** यहाँ एक शंकाकार कहता है कि यदि सच्चा ज्ञान ही प्रमाण है तो हमें यह बतलावो कि जैसे पूर्णमासीकी रात को, जिसमें बहुत बढ़िया चन्द्रमा प्रकट हो, कार्तिक अगहनके दिनोंमें जहाँ निर्मल आकाश रहता है और रात्रिके समयमें आप ५० थाली रख दें पानी भरी हुई या ५० दर्पण रख दें तो आपको ५० जगह चन्द्रमा दिखेगा। इस थालीमें भी मिलता है, उस थालीमें भी, उन सब दर्पणोंमें भी। तो ये ५० चन्द्रमा जो दिखे, सो यह तो बात झूठ हो गई ना? चन्द्रमा तो एक है, ये ५० चन्द्रमा कैसे दिख गए? कहाँ गया तुम्हारा सम्यग्ज्ञान? तो आचार्यदेव जवाब देते हैं कि सुनो सम्यग्ज्ञान यहाँ भी है। जो उन ५० थालियोंमें चन्द्र दीखे, वे तो हैं अलग, ५० चन्द्र हैं पानीकी छाया

पर्यायरूप और जो आकाशमें चन्द्रमा है वह है एक। वहाँ अगर ५० चन्द्रमा दिखे तो झूठ और यहाँ अगर एक चन्द्रमा दिखे तो झूठ। यहाँ जो ५० थालियोंमें ५० चन्द्रबिम्ब हैं तो ये उस चन्द्रसे अलग हैं, आकाशमें रहने वाले चन्द्रमासे पृथक् चीज है यह। हां, निमित्तनैमित्तिक भाव है ऐसा कि उसका सान्निध्य पाकर ये ५० थालियोंके पानी चन्द्रबिम्बरूप परिणम गए। तो निमित्तनैमित्तिक योग तो है, मगर ये ५० तो ५० थाली पानीके ही परिणमन हैं, और वह एक चन्द्रमा है। इसमें कोई विसम्वाद नहीं है। देखो इसमें भी अनेक दार्शनिक कुछसे कुछ मानते हैं। कोई तो मानते हैं कि चन्द्रका ही उसमें प्रतिबिम्ब पड़ा और कोई यह मानते हैं कि इस तरह प्रतिबिम्ब पड़ता कि चन्द्रसे प्रतिबिम्ब निकल पड़ा और फिर वापिस होकर चन्द्रमें पहुंचता है, ऐसी सतत दौड़ लेते रहते हैं तब वह प्रतिबिम्ब दिखता है। देखो ये दार्शनिक हैं, ये इंजीनियर कहलाते हैं, डाक्ट्रेट हैं, अपने-अपने विषयके इंजीनियर हैं, वैज्ञानिक हैं।

**दर्पणबिम्बके उदाहरणमें अनेक तथ्योंका प्रकाश** अभी दर्पणमें ही देखो तो प्रतिबिम्बको बोलते हैं रिफ्लेक्शन याने आकार गया और छूकर लौटता है, निवृत्त होता है तब ही तो यह पहिचानमें बात आ जाती है उस दर्पणको देखकर कि यह चीज कितनी दूर रखी है। देखो बड़ा कठिन काम है यह। दर्पण सामने रखें और पीछे रहने वाली जितनी चीजें हैं उन सबमें प्रतिबिम्ब आ गया। अब दर्पणमें प्रतिबिम्ब आ गया। दर्पणकी ही पर्याय है वह जो दर्पणमें आ गया। अब यहाँ देखकर यह निर्णय तो नहीं बन सकता कि यह चीज इतनी दूर रखी, यह चीज इतनी दूर रखी, मगर बन जाता है। दर्पणमें आप देखकर बता सकते यह लड़का अब इतनी दूर खड़ा हो गया, यह लड़का इतना पास आ गया। बड़ी सूक्ष्म निगाहसे परखेंगे तो विदित हो जायेगा, इसीको बोलते हैं रिफ्लेक्शन। औरका आधार। हमने तो पूरबमें मुख किया और दर्पणमें पश्चिमको मुख मिला, इतना तो वहाँ साफ नजर आता है। गया और लौटा इसे कहते हैं दर्पणमें हटानेका स्वभाव पड़ा है तब उसमें प्रतिबिम्ब आता है और अगर लेनेका स्वभाव पड़ा हो तो कैमरा बन जायेगा। उसमें हटानेका स्वभाव नहीं पड़ा है। तो यहाँ एक अपने लिए यह शिक्षा लें कि फोटो तो दोनोंमें पड़ती है, कैमराके प्लेटमें भी फोटो पड़ती है और दर्पणमें भी, पर कैमरेमें फोटो तो ऐसी पड़ती है कि कैमरा में, प्लेट में, या रीलमें जमकर रह जाती है और दर्पणमें ऐसी पड़ती है कि वह जमकर रह नहीं सकती। वह हट जायेगी, ऊपर-ऊपर लौटेगी। तो इसमें ये सारी चीजें ज्ञानमें आ रही हैं, तो हम दर्पण बनें, कैमरा न बनें। यहाँ आयें तो तेरे ऊपर। यहाँ मेरा कुछ नहीं। मनको नियंत्रित करें। कितनी ही प्रिय स्त्री हो, पुत्र हो, धन हो, लोग हों, मगर अन्दरमें अंधकार न बसाओ, मोह न आये। ये मेरे ही हैं इस तरहकी ज्ञानकी तरंग न बने, नहीं तो इस अंधेरेमें प्रभुके दर्शन नहीं हो सकते। तो मानो ५० दर्पण रखे हों नीचे तो वहाँ भी ५० चन्द्र फोटो आ जायेंगे, मगर वे फोटो चन्द्रके नहीं हैं। चन्द्रमाका सन्निधान पाकर वह फोटो आयी है, वह फोटो उस दर्पणकी हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें अपनी परिणति नहीं बना सकता। तो देखो वह प्रतिबिम्ब बना दर्पण में, पर बना चन्द्रका सन्निधान निमित्त पाकर, यह भी साफ दिख

रहा। और यह भी साफ नजर आ रहा कि चन्द्रमाका उसमें न द्रव्य है, न गुण है, न प्रभाव है। तो निमित्त बिना प्रतिबिम्ब होता नहीं, निमित्तने प्रतिबिम्ब किया नहीं। तो वहाँ जो प्रतिबिम्ब हुआ तो वे सब उन-उनकी पर्यायें हैं। तो उतना जानना सम्यग्ज्ञान है, ऊपर चन्द्रको एक जाना सम्यग्ज्ञान। और देखो इसमें आगमसे कोई बाधा नहीं आती। इसमें सिद्धान्तका कोई विरोध नहीं है। यहाँ इतने प्रतिबिम्ब पड़े हैं वहाँ वह एक चन्द्र है, जैसा है वैसा ही प्रतीतिमें आ रहा है।

**सबका अपने आपमें अपनी-अपनी परिणतिसे परिणमन** क्यौंजी, कोई किसीके घर फेरे आयें, कोई गुजर जाये तो फेरे आते हैं ना, तो वह रिश्तेदार घरमें आकर बहुत बुरी तरहसे रोता है और घरके लोग भी रोते हैं तो बतलावो रिश्तेदारने घर वालोंको दुःखी किया क्या या रिश्तेदारने घर वालोंको सुखी किया? तो क्या उन दोनोंमें एक ही दुःख है? दोनों दुःखी हैं, और इसने उसे दुःख नहीं दिया, उसने इसे दुःखी नहीं किया, पर उसके दुःखकी कल्पना करके यह अपना नया दुःख पैदा कर रहा है। वह उसके दुःखकी कल्पना करके अपनेमें नया दुःख पैदा कर रहा है। अपने-अपने दुःखसे सब दुःखी हो रहे हैं। कोई कहे कि हम तुम्हारे दुःखमें दुःखी रहते हैं और तुम्हारे सुखमें सुखी रहते हैं तो उसे वहाँ यही जवाब दो कि तुम बिल्कुल झूठ कहते हो, ऐसा न कहो जो कभी हुआ और न हो सकेगा। कभी इतना भी दुःख हो जाता कि मानो एक भाई गुजर गया तो दूसरा भाई भी एक ही मिनट बादमें गुजर जाता है, इतना अधिक दुःख उस भाईको हो गया, मगर वह दुःख क्या उस भाईसे आया? अरे इसने अपनी कल्पना बनायी, मोह बनाया, ममता बढ़ायी और अपनेसे ऐसी अपनेसे कल्पना गढ़ाई कि सहन न कर सका और गुजर जाता है। देवोंने लक्ष्मणके प्रेमकी प्रशंसाकी थी, जब स्वर्गमें इन्द्र सभामें यह चर्चा उठी कि राम-लक्ष्मणके समान भाई-भाईका प्रेम किसी भाईमें नहीं पाया जा सकता। तो वहाँ दो देवोंने सोचा कि जरा जाकर देखें तो सही कि कैसा प्रेम है? सो क्या दृश्य देवोंने दिखाया विक्रियाबलसे कि अनेक रानियां रो रही हैं, 'हाय राम, हाय राम' ये शब्द सुननेमें आ रहे हैं और वे देव उदास होकर लक्ष्मणके सामने पहुंच रहे हैं यह कहते हुए अरे श्रीराम तो मर गए। इस दुःखद दृश्यको देखकर लक्ष्मणके प्राणपखेरू उड़ गए। बादमें वे दोनों देव बहुत पछताये अरे हमने तो खेल किया था, प्रेमकी परीक्षाकी थी, यह क्या हो गया? तो परखो वहाँ लक्ष्मण जी गुजरे, पर श्रीरामके कारण नहीं गुजरे। उन्होंने अपने मनमें कल्पनायें गढ़ीं और सहन न कर सके और मर गए। देखिये सहारनपुरके पास सुल्तानपुर एक कस्बा है, वहाँकी एक बात वहींपर अभी जल्दीकी ही सुनी है कि कोई दो भाई थे, वे जैन थे, उन दोनों भाइयोंके नामका एक स्कूल उनके मरनेके बाद एककी पत्नीने खोला है, जो अभी भी चल रहा है। उनका नाम तो याद न रहा, पर सुना है कि उन दोनों भाइयोंमें बड़ा घनिष्ठ प्रेम था, वैसे प्रेमका उदाहरण आजके समयमें शायद ही मिले। सुना है कि वे दोनों भाई जीवनभर एक साथ रहे, एक साथ शौचादिक जाना, एक साथ खाना, एक साथ सोना, एक साथ काम करना, एक साथ रहना, और सुना है कि उनका मरण भी करीब-करीब एक ही साथ हुआ। तो भई, इतना सब कुछ हुआ, यह तो ठीक है,

पर कोई किसीकी पर्यायसे परिणमता नहीं है। कोई किसीके सत्वसे अपना सत्व रखता नहीं। सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं। सबका परिणमन स्वतंत्र है। मगर विकारकी ऐसी बात है कि विकार जब उत्पन्न होता है तो किसीपर निमित्तको पाकर ही हो पाता है। इसमें तो और बल मिला अपनेको कि ये विकार मेरी गाँवकी चीज नहीं। ये नैमित्तिक हैं। दूसरेके बलपर ही अपना बल रखते हैं। तो सर्वत्र यह देखो सब जगह यह ही बात है।

**सूर्य और प्रकाशके उदाहरणमें निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातंत्र्यका दर्शन** अच्छा और भी देखो यह प्रकाश जो सूर्यका तुम्हारे इस भिन्ड नगरमें चारों तरफ सड़कोंपर मकानोंकी छतोंपर फैल रहा है, तो क्या यह बता सकते हो कि यह प्रकाश किसका है? तो दुनिया तो यही कहेगी कि यह प्रकाश सूर्यका है। अच्छा तो सुनो जिसकी जो चीज होती है वह उसके प्रदेशोंमें ही होती है। एक न्याय बना लो जिसकी जो परिणति होती है वह उसके प्रदेशोंमें ही होती है। हमारे हाथका रूप हमारे हाथको छोड़कर बाहर जायेगा क्या? हमारे हाथका रस, गंध, हमारे हाथका आकार, हमारे हाथकी क्रिया यही तो रहेगी कि बाहरमें जायेगी? तो ऐसे ही सूर्यमें लगा लो। सूर्यकी जो कुछ भी चीज होगी वह सूर्यमें ही होगी, सूर्यसे बाहर न होगी। सूर्यका रूप, सूर्यका रस, सूर्यका प्रकाश सूर्यमें ही होगा। अब बतलाओ सूर्य कितना बड़ा है? क्या यहाँ भिन्डमें भी वह सूर्य घुसा फिर रहा? अरे सूर्य तो ऊपर ही है, कुछ कम दो हजार कोशका है याने सूर्यका नाप इतना है। तो उसका प्रकाश यहाँ नहीं आया निश्चय से, परमार्थ से। सूर्य खुद प्रकाशमान है और उसका सन्निधान पाकर, उसका निमित्त पाकर यहाँके पदार्थ अपनी अंधकार अवस्थाको छोड़कर प्रकाश अवस्थामें आ गए। क्योंजी, सूर्य पुद्गल है ना? और यहाँकी चीजें भी पुद्गल हैं, सूर्य तो निरन्तर प्रकाशमान है, उसकी यह विशेषता है और ये पदार्थ सूर्यका निमित्त पाकर खुद प्रकाशमान हो जायें तो क्या उन्हें इतनी भी विशेषता, सुविधा नहीं दे सकते। हैं तो पुद्गल ही ना। यह प्रकाश सूर्यका नहीं, किन्तु सूर्यका सन्निधान पाकर जो पदार्थ प्रकाशित है उसीका परिणमन है। अच्छा चलो अब मकानके दरवाजेके पास एक बड़ा आईना सामने कर दें और जितनी तेज रोशनी सड़कपर है उतनी ही रोशनी घरमें भीतरकी अंधेरी कोठरीमें घुस जाती है। बच्चे लोग ऐसा खेल करते हैं ना? अच्छा वहाँ बताओ जो कोठरीमें प्रकाश आया है वह किसका प्रकाश है? लोग तो कहेंगे कि सूर्यका प्रकाश है, मगर सूर्यका तो नहीं है। अभी तो बताया है। क्या दर्पण का? तो दर्पणका भी नहीं, तो किसका है? उस अंधेरी कोठरीमें जो चीजें हैं वे खुद प्रकाशित जो हुई हैं, वह प्रकाश उस चीजका है। तो हो कैसे गया? वह प्रकाशमान दर्पणका सन्निधान पाकर हुआ, सूर्यका सन्निधान पाकर नहीं हुआ। उस कोठरीमें जो उजेला है उसमें निमित्त सूर्य नहीं है, निमित्त तो दर्पण है। और दर्पणके प्रकाशित होनेमें वह सूर्य निमित्त है। तो कोठरीमें जो उजेला आया है उसके निमित्तका निमित्त है सूर्य, न कि उसका सीधा निमित्त है। आप देखते जावो, निमित्तनैमित्तिक भाव सब जगह व्यवस्थित मिलेगा। अगर ये कहने मात्रके होते तो ये अटपट निमित्त क्यों न बनने लगते? रोज आगका निमित्त पाकर रोटी सिकती, आज चौकीपर सिक जावे,

उसमें नियत व्यवस्था क्यों बनी हुई है कि सूर्यका सन्निधान पाकर ऐसा उजेला है तो निमित्तनैमित्तिक भाव भी व्यवस्थित है और वस्तुस्वातंत्र्य भी पूर्ण व्यवस्थित है।

**निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातंत्र्यकी जोड़ी** अब प्रकरणका पुनः स्मरण करें यहाँ थालियोंमें जो अनेक चन्द्रबिम्ब आये वह इस चन्द्रका कुछ नहीं है। वह तो थालीमें जो पानी है उसका है। कोई कहे कि अगर थालियोंमें चन्द्रमा भी नहीं है तो हम बीचमें एक तख्तका पाटिया किए देते हैं तब फिर तुम जानो चंद्रबिम्ब? तो भाई बात सुनो अब थालीके पानी को चन्द्रबिम्बका सन्निधान नहीं है तो प्रतिबिम्ब नहीं बना, पर उससे कहीं यह तो सिद्ध न होगा कि वह चन्द्रका प्रतिबिम्ब है। देखो निमित्तनैमित्तिक भाव न होता तो यह दृश्यमान जगत नहीं बनता और वस्तुस्वातंत्र्य न होता तो यह दृश्यमान जगत नहीं बनता। अगर मान लो ऐसी अंधेर मच जाये जैसे कि होलीके दिनोंमें अंधेर मच जाती है, लोग विचार नहीं करते, जिसपर चाहे रंग या धूल या कीचड़ वगैरा डाल देते हैं। अगर ऐसी अंधेर मच जाये कि कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थको परिणमा दे तो एकने दूसरेको परिणमाया। तो परिणमन तो एक ही रहेगा। अब इसका रहेगा कि उसका? उसका रहा तो यह मिटा, इसका रहा तो वह मिटा और कभी यह भी मिटेगा। जो दूसरेको मिटायेगा वह खुद भी मिटेगा। जो निमित्तनैमित्तिक भावसे बढ़कर कर्ता कर्मका रूप रख ले तो यह जगत शून्य हो जायेगा। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें कुछ करता नहीं है और क्यों जी, वस्तु स्वातंत्र्य न रहे तो भी जगत न रहेगा क्या? इसका निमित्त पाकर यह परिणम गया, मगर वह अपने स्वरूपमें ही परिणमा, ऐसी ही गाड़ी अनादिसे चली आ रही है। प्रत्येक पदार्थ निज स्वरूपके प्रदेशमें ही परिणमता है, तब ही सब चीजें बनी हुई हैं, नहीं तो यहाँ कुछ बनता नहीं। और निमित्तनैमित्तिक भाव न हो तो नहीं बनता। दोनोंका अपना-अपना रूप समझ लो और फिर रही हितकी बात तो शिक्षा सबमें मिलती है। जैनागममें जितने भी शब्द हैं सबमें आत्माके हितकी शिक्षा भरी है। उनमें यह छोट न करें यह शंका न करें कि इसमें हमारा क्या हित होगा? जैनागमका एक भी वाक्य इस जीवका अहित करने वाला नहीं है। सबमें शिक्षा ले लो।

**संवादप्रमुखतासे प्रमाणत्वका संवाद** यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि ज्ञान प्रमाण है, और वे ज्ञानविशेष हैं ५ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमेंसे केवलज्ञान तो समग्र वस्तुओंमें पूर्ण रूपसे प्रमाण है और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अपने नियत विषयमें पूर्ण रूपसे प्रमाण हैं और अन्य विषयमें नहीं। और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने ही विषयमें एकदेशरूपसे प्रमाण हैं और अन्य विषयमें नहीं। और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने ही विषयमें एकदेशरूपमें प्रमाण हैं। जैसे अनेक दृष्टान्त लो ये दृष्टान्त बहुत हैं, आगे बताये जायेंगे, जिनमें एक परिचय बनेगा कि कोई सा भी ज्ञान इतने अंशमें प्रमाण है, इतने अंशमें अप्रमाण है। तो फिर कोई कहे कि फिर निर्णय कैसे होगा कि यह ज्ञान प्रमाण है कि अप्रमाण, जब कि इसमें दोनों बातें हैं? तो बात यह है कि जिसमें प्रमाणताका अंश अधिक है उसे प्रमाण बोलते हैं और जिसमें अप्रमाणताका अंश अधिक है

उसे अप्रमाण बोलते हैं। अन्यथा यह बतलावो कि रसायनशास्त्र में, विज्ञानशास्त्रमें यों नाम रख दिये जाते हैं कि यह रसद्रव्य है, यह गंधद्रव्य है, जैसे कस्तूरी, इत्र, कपूर आदिक ये सब कहलाते हैं गंधद्रव्य। और जैसे फल होते हैं ना रसभरी, गन्ना आदिक ये कहलाते हैं रसद्रव्य। तो यह बतलावो रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों हैं। तो फिर इसका नाम रसद्रव्य ही क्यों रखा? इसलिए कि उसमें रसकी प्रमुखता है। तो जिस ज्ञानमें सम्वाद अधिक हो वह प्रमाण है और जिसमें विसम्वाद अधिक हो वह अप्रमाण है। यह निर्णयकी बात चल रही है। हमने अगर सीपको चाँदी जान लिया तो बताओ सीपको चाँदी जाना तो यह ज्ञान प्रमाण है कि अप्रमाण? वहाँ सफेद जाननेमें आ रहा ना तो सफेद रंगका बोध हो रहा वह प्रमाण है कि अप्रमाण? प्रमाण है। और यहाँ जो यह जान रहे कि वह चाँदी है, सीपको चाँदी जान रहे, यहाँ यह विपरीत ज्ञान हो रहा सो यह अप्रमाण है। यह ज्ञान अपने जाननेमें प्रमाण बन रहा, मगर जैसा यहाँ जान रहा है वैसा वहाँ पदार्थ नहीं है, इसलिए अप्रमाण है। तो यह चर्चा आगे आयेगी। एक ही चीजमें प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व कैसा भरा पड़ा है और फिर भी व्यवहार सही-सही चलता रहता, सभी ज्ञानी प्रमाणको प्रमाण मानते और अप्रमाणको अप्रमाण मानते।

**ज्ञानविशेषोंके होनेका आधार** आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान ज्ञानरूपमें जब अपनेको निरखेगा कोई तो आत्माके स्वरूपका परिचय बनेगा। ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही ज्ञान हूँ। कैसा अलौकिक विलक्षण पदार्थ है कि ज्ञानमय है। और कोई भी भाव, कोई भी गुण निराधार होता नहीं। सो यह प्रदेशवान है। जो प्रदेशवान है सो आत्मद्रव्य है। मुख्यताकी अपेक्षा जैसे रसमय चीजको रसद्रव्य कहते हैं, ऐसे ही ज्ञानमय इस आत्माको ज्ञानद्रव्य भी कह दें तो 'आत्मद्रव्य' शब्दसे ही समझमें आ जायेगा। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। जब ज्ञानस्वरूप हूँ तो देखो प्रत्येक पदार्थमें ६ साधारण गुण होते हैं, पहला तो यह कि वह है। दूसरा यह कि वह अपने स्वरूपसे है, पररूपसे नहीं है। तीसरा यह कि वह निरंतर परिणमता रहता है, परिणमे बिना एक समय भी नहीं रहता है। चौथा यह कि अपने स्वरूपसे ही परिणमता है, पर स्वरूपसे नहीं परिणमता। पाँचवाँ यह कि उसका कोई न कोई आकार होता है, असत् ज्ञेय नहीं होता, सत् ज्ञेय होते हैं। तो आत्मा भी एक द्रव्य है, मैं भी एक पदार्थ हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, तो मैं प्रति समय परिणमता रहता हूँ। जैसे घड़ीमें चाभी अच्छी तरह भरी हो, बढ़िया घड़ी हो तो आप सोते रहें अथवा उसका कुछ भी ध्यान न रखें तो भी वह चलती रहेगी। एक मोटा दृष्टान्त दे रहे हैं। उसमें चाभी न हो तो बंद हो जाये, मगर जितनी बात कह रहे उतनेके लिए समझें। ये प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमते रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कोई एक ईश्वर है अलग से, वह जीवों को, चीजोंको बनाता रहता है। देखो वस्तुयें हैं अनन्त और उन अनन्त पदार्थोंकी संभाल वह कैसे करे? कहाँ-कहाँ पदार्थ हैं? एक ही स्कंधमें अनन्त परमाण हैं, अब व्यवस्था कहीं हो रही है और अन्यत्र कोई पदार्थ बिना परिणमे रह जायेगा क्या? कोई यदि भूल जाये या ध्यान न रहे या कोई कारण जुट जाये तो परिणमन न हो, ऐसा हो जायेगा क्या? अरे वस्तु स्वयं परिणमनशील है,

तब उसमें नाम लगा दो, चाहे ईश्वर का, चाहे और किसी का। अगर वस्तु परिणमनशील न हो तो ईश्वर उसे कैसे परिणमाये? पहली बात तो यह समझो और किसने किया? यह तो अलगकी बात है, अलग विषय है। वस्तु परिणमनशील है, उसे मना कोई नहीं कर सकता। वह निरन्तर परिणमती रहती है। मैं आत्मा हूँ, पदार्थ हूँ, सदा परिणमता रहता हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ। तो ज्ञानका ही परिणमन होता है। इस आधारपर ज्ञानके भेद कहे जा रहे हैं। तो ज्ञानके कितने परिणमन होते हैं? अनगिनते परिणमन। ज्ञानके कितने भेद हैं? अनगिनते भेद हैं। तो कोई कहे वाह आगममें तो बताया ५ भेद हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, सो ठीक तो ये है पाँच उन अनगिनते भेदोंकी जाति बना दी। उन पर्यायोंकी कितनी जाति है, प्रकार हैं? वे अनगिनते ज्ञान ५ प्रकारोंमें आ जाते हैं। वे ५ प्रकार हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये सब प्रमाणभूत हैं।

**चार ज्ञानविशेषोंमें प्रमाणत्वका अनुरंजन** अब इन पाँच ज्ञानविशेषोंकी प्रमाणताका हाल देखो। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तो अपने विषयमें एक देश रूपसे प्रमाण हैं। जब निर्णय करने बैठते हैं तो यों बैठिये कि उसमें किसीका लिहाज नहीं हो। जो युक्तिपर उतरे वह कहना। शत्रुके गुण भी हों तो उसे भी कहना और गुरुके दोष हों तो उसे भी कहना। ज्ञान प्रमाण है तो जब यहाँ निर्णयपर चलते हैं तो सब ज्ञानोंरूप यह बात देख लीजिए कि इसमें प्रमाणता कितनी है और प्रमाणता न रहना यह बात कितनी है? केवलज्ञानसे पहले जितने ज्ञान होते हैं वे सब सर्वरूपसे प्रमाण नहीं होते, अपने-अपने विषयमें प्रमाण हैं। ये अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तो अपने विषयमें पूरे रूपमें प्रमाण हैं और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने विषयमें पूरे रूपसे प्रमाण नहीं, किन्तु एक देशरूपसे प्रमाण हैं। इसके दृष्टान्त अनेक हैं, जो आगे बतायेंगे। अभी इस प्रकरणमें यह बात समझना कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो अपने विषयमें एक देश प्रमाण हैं, सर्वथा प्रमाण नहीं और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अपने विषयमें पूरे प्रमाण हैं, किन्तु सर्वविषयोंमें प्रमाण नहीं। केवल केवलज्ञान ही ऐसा है जो सर्वविषयोंमें प्रमाणभूत है। इसकी क्या कसौटी है? जहाँ-जहाँ सम्वाद रहे सो प्रमाण और जहाँ-जहाँ विसम्वाद आये सो अप्रमाण। सम्वाद मायने क्या? सम्वादमें तीन बातें परखी जाती हैं एक तो यह कि उस विषयमें अन्य प्रमाण भी गवाही दे तो सम्वाद। दूसरा यह कि उसके अनुसार अर्थ क्रिया व्यवहार होने लगे तो वह विसम्वाद और तीसरा है उस वस्तुकी प्राप्ति हो जाये तो वह संवाद। इसके अतिरिक्त चौथी बात यह कि उसमें कोई बाधक प्रमाण न आये। तो तीन बातें तो विधिरूप हैं। जहाँ ये संवाद होते हैं वह प्रमाण माना जाता है। जैसे प्यास लगी तो पानीकी जगह गए। पानी देखा तो अब आँखसे देखा, अब मनने निर्णय किया, फिर उसके निकट जाने का उद्यम किया, फिर अब हाथने भी छुवा, यों नाना प्रमाणान्तरोंसे भी उसका वह निर्णय बनता रहे तो समझो कि जो ज्ञान बना, सो प्रमाण। और पानी पीने लगे, अर्थक्रिया होने लगी तो मालूम प्रयोगात्मक भी हो गया प्रमाण और उसमें कोई बाधक कारण न मिले सो निषेधमुखेन भी सम्वाद आया। और जहाँ विसम्वाद हो सो अप्रमाण।



**संवादक मतिश्रुतज्ञानका एक लौकिक उदाहरण** अब प्रमाणत्व व अप्रमाणत्वके बारेमें एक दो दृष्टान्त लेंगे तो समझमें आयेगा। रास्तेमें चले जा रहे, एक-दो मील दूरसे एक वृक्ष दीखा, वृक्ष है, यह बात सही है ना? प्रमाण है, मगर दूरसे कितना बड़ा देखा वह वृक्ष? कोई दो ढाई हाथका दीखा होगा और होगा ४० हाथका लम्बा। आप कहेंगे कि वहाँ हम तो समझ रहे कि बहुत बड़ा है तो आप मनसे ही समझ रहे हैं, आँखसे तो नहीं ज्ञान कर रहे। जिस आँखसे पेड़ दिख रहा है उस आँखसे जो ज्ञान बना है उस ज्ञानमें वृक्ष है, इतनी बात तो रही सही और जो दो-ढाई हाथका वृक्ष दीखा वह वहाँ ही है, ज्ञान एक हो रहा है। अब उसमें यह समझना कि हमको क्यों दिखता है, किसलिए देखा है, क्या काम करना है, उस प्रयोजनके अनुसार संवाद चाकरी करता है। तो यहाँ जो इतना सम्वाद बन रहा है वह अंश अधिक है, इसलिए प्रमाण है। देखो हम उस समय इसमें तो तर्कणा नहीं कर रहे कि कितना लम्बा-चौड़ा? वहाँ तो देख रहे हैं, देखने में जो आया वह प्रमाण और बिल्कुल उस पेड़के पास पहुंच जायें। कोई १० गजकी दूरी पर, तो वह वृक्ष कितना बड़ा दीखता? और बीचमें और प्रकारसे दीखता। तो यह बतलावो कि चाक्षुषज्ञानसे तुम वृक्षकी लम्बाई-चौड़ाई ठीक-ठीक कहाँसे बता पावोगे, तो चाक्षुषज्ञानमें अन्य बातोंकी ओरसे प्रमाणता नहीं। यह सिद्धान्त हुआ है विदेशों में, जर्मनमें उसका हिन्दी अर्थ है सापेक्षवाद, उसने भी स्वीकार किया। सापेक्षवादके अनुसार चन्द्रमा कितना बड़ा है? तो इसके उत्तर अनेक हैं। जहाँसे देखो वहाँसे उतना उत्तर मिलेगा? जो सापेक्षवाद सिद्धान्त निकला है उसमें और स्याद्वादमें थोड़ा अन्तर तो है, मगर एक स्याद्वादकी ही किरण है। तो बात यह बतला रहे हैं कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञानपर चूँकि आवरण विशेष है, इसलिए प्रमाणता एकदेश हो पाती है। जैसे-जैसे ज्ञानके आवरण जितना कम होते जायें उसमें इतनी प्रमाणता बढ़ती जाती है। अब वृक्षको देखने वाले हजारों आदमी हैं तो लम्बाई-चौड़ाईके बारेमें कोई कुछ देख रहा, कोई कुछ। कौन-सा प्रमाण है? तो बात यहाँ यह समझनी कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जितने विषयको जानता है उतने विषयमें भी एक देशरूप में प्रमाण होता। तब देखा जाता है अपने परखनेमें सम्वाद है सो प्रमाणता और जहाँ विसम्वाद है सो अप्रमाणता।

**ज्ञानस्वभाव और केवलज्ञान पूर्ण सम्पन्नता व अन्य विशेषोंमें सम्पन्नताकी तरतमता** भैया! स्याद्वाद एक ऐसी अद्भुत देन है। जैसे कोई गुरु गुजर जाये तो शिष्य कहता है कि हमको तो वे महाराज अद्भुत देन दे गए। ऐसे ही हमारे जैनशासनके नायक चले तो गए सब, मगर एक ऐसी देन दे गए कि जिस देवके प्रसादसे हम स्पष्ट रहते हैं, प्रकाशमें रहते हैं, निःशंक रहते हैं, मोक्षमार्गपर चलते हैं। तो स्याद्वादसे निर्णय चल रहा है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने जितने विषयको जानता है उस विषयमें एकदेश रूपसे प्रमाण है। क्या निर्णय बनायें? सफेद कपड़ा है। तेज धूपमें सफेद कपड़ा पड़ा हो तो वह कितना सफेद लगता है और कमरेके अन्दर सफेद कपड़ा हो तो वह कितना सफेद लगता है और उसपर सर्च लाइट डलवा दी जाये तो कितना सफेद लगता? पर तुम बताओ कितना सफेद है? चाक्षुषज्ञानसे तुम उस सफेदका निर्णय तो बताओ। बता तो दोगे, मगर सर्व

बातोंमें प्रमाणता न आ पायी। जहाँ-जहाँ विसम्वाद नहीं वहाँ-वहाँ प्रमाणता है। जिसमें सब लोग कहें कि हाँ यह है, सम्वाद हो गया लौकिक बातों में। अलौकिक बातोंमें ज्ञानी पुरुष बतावेंगे। लौकिक बातोंमें सब लोग बतावेंगे। तो प्रमाण तो मिथ्याज्ञान भी प्रमाण है, सम्यग्ज्ञान भी प्रमाण है। पर मिथ्याज्ञान लोकरूढ़ीमें प्रमाण है और सम्यग्ज्ञान वस्तुस्वरूपमें प्रमाण है। तो अपने स्वभावको देखो और स्वभावके जो परिणमन होते हैं उन परिणमनोंपर लट्टू मत हो जावो, ये कुछ नहीं है। ये ज्ञान कुछ नहीं है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, ये कुछ नहीं हैं। मेरी वहाँ सम्पन्नता नहीं है। सम्पन्नता निरखाना है तो प्रकटमें केवलज्ञानके देखें और अंतःसंपन्न चैतन्य स्वभावको देखें। और बीचमें तो अमीर-गरीबका हिसाब जैसे यहाँ लौकिक हिसाबमें कोई फिट नहीं बैठता, ऐसे ही बीचके ज्ञानोंके पूर्णरूपसे प्रमाणत्व और अप्रमाणत्वकी अमीरी-गरीबीका हिसाब ठीक नहीं बैठता। वह तो सम्वादके आधारपर प्रमाणता कहलाता है। ऐसे कितने ही ज्ञान मिलेंगे। उन सब ज्ञानोंमें जो प्रकट साक्षात् नजरमें है वह प्रमाण है और उसके अतिरिक्त जो अन्य अंश हैं, अप्रमाण हैं, पर प्रयोजन तो, लगाव तो साक्षात् वालेमें है ना। वह सम्वाद बनता है। वहाँ विसम्वाद है वह प्रमाण नहीं है।

**सर्वअनुयोगोंमें सत्यताके दर्शनका कर्तव्य** प्रकरण चल रहा है आत्माकी ज्ञानपर्याय का। दार्शनिक विषय करणानुयोग और अध्यात्म विषय ये परस्पर विरोधी नहीं हैं। इनमें किसीको कहना सत्य और किसीको कहना असत्य, यह तो ज्ञानके दिवालेपन का ऐलान है। करणानुयोग व्यवहार है। जो भी व्यवहार कहता है सो झूठ है, ऐसी बात नहीं। ऐ जैनशासन प्रेमियों! ऐसी अभक्ति मत करो। तुम्हारे आगममें एक-एक वाक्य प्रमाणभूत है और जिस रूपमें कहा उस रूपमें प्रमाणभूत है केवल उपचार भाषा में। अज्ञानका बड़ा दुःख उठाना पड़ेगा। तुम्हारे हितकी बात स्वभावदर्शनकी उमंग तो सब जगहसे मिल जायेगी। प्रमाणसे सब निर्णय करके एक स्वभावदृष्टिको मुख्य बनाकर उसीमें उतर जावो, कल्याणका मार्ग है, मगर अज्ञानी बनकर स्वभावदृष्टिमें उतरो तो धोखा है। यदि ज्ञानी बनकर समस्त अन्य भावोंकी उपेक्षा करके स्वभावदृष्टिमें उतरो तो वहाँ धोखा नहीं है। जिन प्रमाण और नयोंसे वस्तुस्वरूपका अधिगम होता है तो क्या वे प्रमाण आदिक झूठ हैं? क्या नय झूठा है? क्या झूठ उपायसे सच्चा ज्ञान बन सकता है? यद्यपि अभूतार्थनयसे भूतार्थका संकेत होता है सो अभूतार्थ भी झूठ नहीं है। सत्य उपाय करना है तो सत्य उपाय चाहिए। वह उपाय ये दोनों हैं प्रमाण और नय। प्रमाणमें हैं ५ ज्ञानविशेष और नयमें हैं ७ नय नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय, एवंभूतनय। कोई प्रमाण असत्य है क्या? नहीं। कोई नय असत्य है क्या? नहीं। असत्य है तो केवल उपचार है। और इस उपचारको कभी व्यवहार देकर कहते हैं तो वह भी असत्य। वह व्यवहार भी उपचार ही है, पर प्रमाण और नयके अंशरूप जो द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदिक हैं इनमें कुछ भी असत्य नहीं है। निर्णय ठीक बनावें और जहाँ हित मिलता है उसकी ओर निःशंक होकर लग जावें। कोई पुरुष जैसे कोई लड़के वाला किसी लड़कीके घर गया। उसके ५ लड़के थे। सगाई करनी थी उसको बड़े लड़के की। चूँकि प्रयोजन बड़े लड़केसे है। सो

रुचिपूर्वक देख रहा है और उससे विशेष प्रेमसे बोलता है, उसका आदर करता, उसका प्रसंग रखता और चार लड़कोंका ख्याल नहीं रखता, तो ठीक है, मत रखो, काम तो इससे है ना, मगर वह यह कह बैठे कि ये चार लड़के झूठ हैं, ये मिट्टीके पुतले हैं, लड़का तो यही एक है, सच तो यही है तो क्या वे ४ लड़के झूठ हो जायेंगे? अरे लड़के तो हैं अभी और चार, पर उसे तो इस बड़ेसे मतलब है। अच्छा है, सुशील है, उस बड़े लड़केकी रुचि लगायेगा। ऐसे ही द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयके जो भी तत्त्व आगममें बताये हैं उनमेंसे मुक्ति चाहने वाले पुरुषोंको स्वभाव रुच रहा है। स्वभावसे सगाई करें, स्वभावसे नाता लगावें। स्वभाव ही एक बड़े प्रशंसाके रूपमें नजर आ रहा है। स्वभावमें ही उतरो, स्वभावमें निःशंक जावो, मगर यह तो न कहना कि पर्याय मिथ्या है, है ही नहीं पर्याय। ऐसा कहने वाले तो सम्वेदनाद्वैतवादी हैं। दर्शनोंको पढ़नेसे यह ध्यानमें आयेगा कि हम स्याद्वादसे यहाँ बाहर जा रहे और इस दर्शनमें पहुंच रहे।

**अपूर्ण ज्ञानपरिणमनोंके परिचयसे निरहङ्कारताकी शिक्षा** प्रसंगमें यह कहा जा रहा है कि प्रमाण और नयोंसे अधिगम होता है। इसमें प्रमाण ये चार ज्ञान हैं। ऐसे इन ५ ज्ञानोंमें प्रमाणता कितनी है? जो ज्ञान जितने विषयको जानता है उतने विषयमें प्रमाण है। अनधिकार चेष्टा कोई करे तो उसकी तो दुर्दशा होगी। भले पुरुष सज्जन पुरुष अनधिकार चेष्टा नहीं करते। संभलकर रहते हैं। जिस ज्ञानका जिस विषयमें अधिकार है उसको उस विषयमें प्रमाणता है अन्य विषयमें प्रमाणता नहीं है। काँच आते हैं, ऐसे, जिनमें अपना प्रतिबिम्ब उतरता है, कितनी तरहके काँच होते? किसीमें लम्बा प्रतिबिम्ब हो जाता है जिसको देखकर हँसी आयेगी, किसीमें ठिगना, किसीमें चौड़ा। अजायबघरमें देखा होगा। निर्णय करो कि असलमें जिसका प्रतिबिम्ब है वह कैसा है? एक देखो सामान्य आकार-प्रकार, अंगोपांग, वह तो प्रमाण, पर लम्बाई-चौड़ाईकी बात कोई बनाये तो नहीं बनती। देखिये कितना हम आप लोगोंके ज्ञानकी पोलें खोली जा रही हैं कि हम आपमें कितनी पोल बसी है? जिसपर घमंड इतना करते कि सारी दुनिया कुछ है। जो हूँ सो मैं हूँ, उस ज्ञानकी बात चल रही कि वह ज्ञान कितना अधूरा है? केवलज्ञानसे पहले सब ज्ञान अधूरे रहते हैं और तभी तो इन जीवोंके अज्ञान भाव बताया है। केवलज्ञान ही तो अज्ञानभाव नष्ट होता है। केवलज्ञान जब तक नहीं तब तक अज्ञानभाव है। अज्ञानभाव दो प्रकारके होते हैं एक तो मिथ्यात्व वाला और एक उदय वाला। तो जो औदयिक अज्ञान है वह १२वें गुणस्थान तक है। निर्णय अपनेको क्या बनाना? जो मेरेमें परिणमन होते उन परिणमनोंके निर्णयमें हमें अधिक नहीं जाना है, पर थोड़ा समझ लेना है। परिणमन समझे बिना स्वभाव समझमें न आयेगा। प्रयोजन तो न रहा वह, किन्तु उसके परिचयका भी प्रयोजन स्वभाव परिचय है और फिर अपादान दृष्टि से देखें कि ये सब ज्ञान किस ध्रुवमें निकल रहे हैं? वह मेरा यह चैतन्यस्वरूप। भूतार्थ पद्धतिसे समझनेका तरीका यह है कि उसके अपादानका परिचय कर लें कि यह आस्रव निकला है तो किससे निकला, यह बंध निकला तो किससे निकला, यह शुद्ध परिणाम निकला तो किससे निकला, जिससे निकला उसका परिचय बनायें, यह पद्धति भूतार्थकी ओर ले जायेगी।

अन्तिम एक लक्ष्य बनाकर उसकी धुनमें प्रवर्तन करते हुए भी लक्ष्यका सतत आमन्त्रण ये सब चैतन्यके परिणमन हैं। ज्ञानके परिणमन हैं, पर ये सब अधूरे हैं। अपना लक्ष्य बनावें एक। जैसे मुम्बई जानेका किसीका लक्ष्य हुआ है, मानो ग्वालियरसे बैठे तो सीधे मुम्बई पहुंच गए। रास्तेमें अनेक स्टेशन बड़े सुहावने लगते हैं। कहीं चित्र खिंचे हैं, कहीं झंडियाँ लगी हैं, कहीं वृक्षबेल खड़ी है, कहीं अच्छे-अच्छे फूल खिले हैं, तो किसी स्टेशनको सुहावना देखकर कोई मुसाफिर उतर जाता है क्या? उतरता तो नहीं। इतने समझदार तो सभी लोग हैं। कदाचित् किसी प्रयोजनसे नीचे उतरना भी पड़े, मानो चाय पीना है या पानी पीना है या मिठाई खरीदना है यों ही टहलना है तो बस थोड़ा सा रुकते और ज्यों ही गाड़ी चलनेको होती कि झट अपनी सीटपर आ जाते हैं। तो इसी तरह अपना ध्येय बनायें कि हमको तो केवल शुद्ध होना है, मुक्त होना है तो उस मुक्त होनेके पौरुषमें बीचमें अनेक बातें आयेंगी। कुछ तप, व्रत, संयम आदि अनेक आचरणकी बातें करनी होंगी। यश, प्रतिष्ठा आदिक कुछ लुभावनी चीजें भी सामने आयेंगी, पर क्या उन बीचके स्टेशनोंमें उतरना है? क्या उनमें रमना है? अरे प्रयोजनवश उतर जायें, पर झट अपनी ज्ञानधारा रूपी ट्रेनपर आ जावें। जब अपनी मंजिलमें पहुंचनेका काम पड़ा है तो बीचके स्टेशनोंमें उतरो, मगर रमो मत। तो उस मंजिल तक पहुंचनेके बीच ये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान और इनके नाना प्रभेद ये सब बातें आती हैं और समझो कि ये हमारी प्राप्तव्य मंजिल नहीं। अनेक ऋद्धियाँ पैदा होती हैं, जिनके ज्ञानऋद्धि भी है, अन्य ऋद्धियाँ भी हैं, पर उनमें भटकना नहीं। साधु-संतोंको प्रकट भी नहीं रहता कि हमें क्या ऋद्धि मिली? कुछ प्रयोजन ही नहीं है। जो प्रयोजन विकल्प रखता है सो गिर जाता है। जब १०वाँ विद्यानुवाद पूर्ण होता है तो वहाँ सैंकड़ों विद्या महाविद्या देवियोंके रूपमें आकर प्रार्थना करती हैं मुनि महाराजसे और वहाँ वे चिग जायें तो बस गिर जाते हैं और नहीं चिगते तो आगे बढ़ जाते हैं। तो ध्येय बनावें एक लक्ष्यमें चलें और इस व्यवहारमें विरोध, खिंचाव, फर्क ये बातें नहीं लेना है। ये बेकारकी बातें हैं। तुम इतना करते तो बहुत अच्छा, तुम इतना कर पाते बहुत अच्छा। यहाँकी बातोंमें अटक जायें तो, दूसरेकी क्रियामें अटक जायें तो खुदका पतन किया। सब प्रमाण है। किसीको विशेष ज्ञान नहीं है तो उसका भी व्रत तप सराहनीय है, किसीको ज्ञान विशेष है तो उसका भी तप व्रत सराहनीय है। कोई विरोध करके अपने ज्ञानको क्यों अपात्र बनावे? अपने भीतर लक्ष्य बने अपनी धुनमें चलें, बाहरमें सब अच्छा, कोई बुरा नहीं। धर्मके नामपर जो जितना करता है वह अपनी पदवीमें भला करता है। जो कम ज्ञान रखता है उसे संभालो, आगेकी बात सिखाओ उसे दुतकारो नहीं। क्या कहलाता है वात्सल्य अंग और क्या कहलाता है स्थितिकरण अंग? अभी सम्यग्दर्शनकी व्यवहारस्थितियोंका भी पालन नहीं हुआ तो फिर हम क्या बने धर्मपालक?

**इन्द्रियज ज्ञानोंका अपने विषयमें देशतः प्रामाण्य** “तत् प्रमाणे” इस सूत्रमें यह बताया जा रहा है कि वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। इसमें दोनों तरफ निश्चय बनाना है। ज्ञान ही प्रमाणरूप है, अज्ञान नहीं। और वह ज्ञान मूलमें दो प्रमाणरूप ही है। मूलमें नाना भेद नहीं हैं। तो ज्ञानकी प्रमाणताके

बारेमें वर्णन चल रहा है कि हम आपको जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान पराधीन है और अधूरा है। इस ज्ञानमें अहंकार न करें, इसमें संतोष मत बनावें। यह तो परिस्थितिवश इनमेंसे गुजरनेकी बात है। देखो स्पर्शन इन्द्रियसे कोई चीज जानते हैं तो वहाँ बहुत गड़बड़ी मिल जाती है। कोई बीमार आदमी है, बुखार चढ़ा है और वैद्य उसकी नाड़ी देख रहा है, वैद्यको तो लग रहा है उसका हाथ गरम और उस रोगीको लग रहा है वैद्यका हाथ अधिक ठंडा। अच्छा यह बताओ कि जितना ठंडा हाथ वैद्यका लग रहा है उस रोगीको क्या उतना ठंडा वह हाथ है? नहीं। यह स्पर्शनइन्द्रिय भी सामान्यतया तो प्रमाण है, पर उसके अंशोंको निरखा जाये तो प्रमाणता नहीं ला सकते। अधिक गरम पानीमें आपका हाथ डूबा हो, दिख रहा हो और उसके बाद फिर कम गरम पानीमें हाथ डालें तो आपको गरम मालूम होता है या ठंडा मालूम होता है? ठंडा मालूम होता है। तो अब सामान्यतया तो निर्णय बनाते हैं और उनके अंश-अंशका निर्णय देखने चले तो वहाँ ज्ञान प्रमाण न रहेगा। कभी-कभी लोग त्यागियोंके सागमें थोड़ी मिर्च डाल देते हैं, जो कि गृहस्थ जनोंको तो थोड़ी है, मगर त्यागियोंको तो लगता है चरपरा बहुत अधिक और गृहस्थ जन उस मिर्चकी शाकको खाते हैं तो उन्हें चरपरा नहीं लगता, सो कहते जाते कि इसमें और मिर्च डालो, अजी इसमें बिल्कुल थोड़ी मिर्च पड़ी है। खाने वालेको तो थोड़ी है, चरपरा भी नहीं है और उसे तो उसके चरपराहटमें यह आकुलता है कि कुछ डाला ही नहीं है। तो चरपरेका ज्ञान करके दोनों बताओ सही चरपरा क्या है, कितना है? सामान्य ज्ञानमें तो प्रमाणता आ गई, अगर उसके अंश-अंशकी जानकारीमें दखल दें तो यह अधिकार नहीं बन पाता। घ्राणेन्द्रियका विषय निरखिये किसीको कोई चीज मानो हींग खाने वालेके हींगमें सुगंध मालूम होती और न खाने वालेको दुर्गन्ध लगती। सामान्यतया गंधके ज्ञानमें तो प्रमाणता आयी, पर कितनी गंध है, कितनी सुगंध है, ऐसी अंशके परिचयमें बात नहीं बनी। चक्षुरिन्द्रियकी बात तो पहले बता ही दी गई थी पहिले उदाहरण में। श्रोत इन्द्रियका ज्ञान भी ऐसा ही बोध रखता है। बाहरके शब्द सुना, पासके शब्द सुना तो उसमें अन्तर है। तो शब्द मात्र सुने इतनेमें प्रमाण है। तो बात यह कह रहे हैं कि जिन ज्ञानोंपर हम आप घमंड किए रहते हैं, गाल फुलाये रहते हैं, आँख मुँह चढ़ाये रहते हैं, हम तो खूब बुद्धिमान हैं, हमने सब कुछ सीख लिया, हम उस अहंकारके आगे ज्ञानी का, साधु-संतका अपमान करते हैं, तो ध्यानमें लावो कौन-सा ऐसा ज्ञान पाया जो घमंडके लायक है? भैया! देखो, पर्यायको देखकर तो अपनेको गरीब मानो और स्वभावको निरखकर अपनेको सम्पन्न मानो, पर स्वभावके तो गरीब बन रहे हैं, पर्यायके अमीर बनना चाहते हैं तो कैसे कल्याण हो? तो इन्द्रियज ज्ञानमें ऐसी बात है।

**श्रुतज्ञानमें प्रायोजनिक ज्ञानके साथ अनायास अनेक अप्रायोजनिक बोध** श्रुतज्ञानमें भी देखो, शास्त्रसे जान लिया कि भरत और बाहुबलिका युद्ध हुआ था, इतना ही जाना कि और कुछ?पर इस ज्ञानके साथ पूरा नक्शा ज्ञानमें आ जाता है। यह खड़े भरत, यह खड़े बाहुबलि, इस तरफ इनका मुख है, इस तरफ इनका मुख है, चित्रमें कल्पनामें वे सब बातें आ गई ना, तो क्या ऐसा था मुख?

कल्पनामें आया कि पूरबकी तरफको मुख भरतका और पश्चिमकी तरफको मुख बाहुबलि का, मगर इसका क्या पता? मगर यह ज्ञान करने वाला तो ऐसा एक ज्ञान बना रहा कि यह नियंत्रणमें ही नहीं रहता। कल्पना कर गए। अखबारमें पढ़ा, मानो मुम्बईमें दो पहलवानोंका दंगल हुआ उसमें यह जीता, ऐसा समाचार अखबारमें देखा तो इतना देखनेपर मुम्बई उसके सामने है और पहलवान भी उसके सामने है। हैं नहीं, पर कल्पना कर ली। कुछसे कुछ अपनी कल्पना बनाता, एक साँवला है, एक गोरा है, ठिगना है...समाचार तो उतना ही अखबारमें पढ़ा था कि दो पहलवानोंका दंगल हुआ और इतना विशेष ज्ञान कर लिया। अब जितना यह रूप बनाया उतनेको बोल सकते क्या, ऐसा ही सही है, पर प्रयोजनकी बात, प्रयोजनको छोड़कर आप यदि बालकी खाल देखेंगे तो काम न बनेगा।

**जैन आगमोंके कथानकोंकी प्रमाणता** जैन ऋषि संत बड़े परमप्रतापी व दयालु थे। उनकी कलम कभी खोटी बातके लिए नहीं चली। और अब ऐसे मूढ़ उत्पन्न हो रहे स्वच्छन्द बनकर अपनी जीभको हिलानेमें संकोच भी नहीं करते। अरे वह तो कथानक है, यों ही है। अरे जिनसेनाचार्य आदिक आचार्य, जिन्होंने आध्यात्मिक ग्रंथ भी बनाये हैं, करणानुयोगमें जिनकी गति रही उन्होंने अगर कथा कही है तो उसमें भी एक बालकी खाल निकालना, यहाँ ऐसा लिखा वहाँ वैसा लिखा। इसमें ऐसा वर्णन किया, शृंगार का, वीर का, अमुक का। ऐसे श्रद्धाहीनकी क्या दशा होगी? अरे उद्देश्य होता है प्रयोजनको लेकर। प्रयोजन देख लो अगर राम-लक्ष्मण का, सीताका चरित्र है तो उसमें अधिक वर्णन है। जो होना चाहिये। अब उस वर्णनमें किसी बातको सामने रखकर सारे ग्रन्थोंको झूठ कहनेकी व जीभ हिलानेकी कोशिश करना यह गुण्डागिरी नहीं है क्या? प्रयोजनमें फर्क आये तो वहाँ जीभ हिलावो। प्रयोजन यह है कि शील व्रत वैसा रखना चाहिए जैसा कि उस सीताका रहा, व्यवहारमें मर्यादा ऐसी रखनी चाहिए जैसी कि श्रीरामने रखी। थोड़ेसे प्रयोजनके लिए आडम्बर अधिक बोलना पड़ता है। नहीं तो बताओ लड़का-लड़कीका विवाह कितनी देरमें होता है? मुश्किलसे एक-डेढ़ मिनट लगते होंगे, जब फेरे फिर रहे उसीका नाम तो विवाह है। अब कोई कहे कि ज्यादा नटखट क्यों करते? वही एक-डेढ़ मिनटका प्रोग्राम बना दो। कहीं भी लड़का-लड़की मिल गए, बस वहीं चक्कर घुमा दिया, हो गया विवाह। आजकल तो कहीं-कहीं मात्र जयमाला डालकर ही विवाह होने लगे हैं। बताओ उस तरहके विवाहमें कितनी देर लगती है? पर एक मिनटके ही मात्र प्रोग्रामसे विवाह करनेमें बड़ा अनर्थ होगा। इसमें फिर विवाह करनेका कुछ महत्व न रहेगा और फिर वह शील व्रत, आज्ञाकारिता या व्यवहारकी जिम्मेदारी या जो-जो व्यवहार है वह सब खत्म हो जायेगा अगर आपने विवाहकी प्रथा एक-आध मिनटकी रख दी तो। और जब विवाह करनेमें कुछ दिन या घटा लगते अब बारात आयी, अब यह हो रहा, अब यह हो रहा, मन्दिरके अन्दरमें विधान है, अमुक है, अमुक है, और उसकी ६ महीना पहलेसे तैयारी होती, तो ऐसा होने वाले विवाहका कितना महत्व बढ़ता है? विवाहका प्रभाव रहनेमें शीलव्रतकी परम्परा निभेगी। वहाँ व्यवहार, नीति, रीति, डर, भय,

संकोच सदाचार, शील आदिक सबकी रक्षा है। अब कोई कहे कि जब रामके चरित्रमें इतनी ही बात दिखाना था किसी सीताका जैसा शील और रामकी जैसी मर्यादा तो उसे एक ही श्लोकमें लिख देते तो बताओ उसका कुछ प्रभाव भी पड़ता क्या? लोगोंको कुछ अध्ययन भी बनता क्या? तो जैन आगमका कोई भी शब्द निरर्थक नहीं है। मान लो रुचिके अनुसार कोई शब्द अधिक मालूम होता तो तुम एक भक्ति रखकर अपनी रुचिके अनुसार अपने मननीय तत्त्वमें लग जावो, पर अभक्ति का, अश्रद्धाका पाप न करो, अपने प्रयोजनमें लगे रहना इसमें हानि नहीं है।

**श्रुतज्ञानके देशतः प्रामाण्यका दिग्दर्शन** श्रुतज्ञानमें भी देखो बहुत-बहुत प्रकारके परिचय हैं। पर प्रायोजनिक अंशकी अपेक्षा प्रमाणता है और बड़े-बड़े अप्रायोजनिक अंशोंकी भी कल्पना हो रही, उस ओरसे इसका क्या मतलब? वह प्रमाण नहीं है, न सही। एक पुरुष जिसने अपना कब्जा नहीं देखा, पैदा होनेसे दो ही साल पहले मर गया और जब कोई बच्चेसे चर्चा करते हैं ना ८-१० वर्षके बालकसे भी कि तुम्हारा बब्बा ऐसा था, बहुत श्रम करता था और सबकी याद रखता था तो बच्चा भी कल्पनामें तो ला ही देगा कि ऐसी मूँछें ऐसा सिर, कुछ कल्पनामें तो आयेगा। अब कल्पनामें जैसा सिर आया, जैसा हाथ आया, जैसा पेट आया है वैसा है कि नहीं, क्या पता, वह हो न हो, प्रायोजनिक ज्ञानमें प्रामाण्य है ही। हाँ, प्रमाण ज्ञानके साथ अप्रमाण ज्ञान भी बहुत चलता रहता है, पर प्रयोजनकी दृष्टिसे प्रमाणकी व्यवस्था है। अच्छा आप लोगों मेंसे किसीने मेरुपर्वत तो नहीं देखा, और जब जानते हैं ना, भगवान जन्म हुआ, ऐसे देव आये, ऐसे गाजे-बाजेसे ले गए। मेरु पर्वतपर ले गए और वहाँसे क्षीरसमुद्र तक फैले, वहाँसे पानी लाये, हवन कराया और फिर घर ले आये। सुन तो रखा ना। तो सुनकर ही लोग रह जाते क्या? अरे वे तो अपने चित्तमें मेरु पर्वत खड़ा कर देते हैं। और ऐसे जा रहे, ऐसे रंगकी ऐसी सवारी, ऐसे फिर रहे, कितने ज्ञान होते रहते हैं, पर उसमें प्रयोजन जितना है उतनेमें तो प्रमाणता है, मगर ऐसा ही फिरना, ऐसे ही भगे क्षीरसागर जैसे कि हमारे मनमें चित्र खिंच रहे हैं इनमें क्या प्रमाणता? तो बात यह कह रहे हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषयमें भी एकदेशरूपसे प्रमाण हैं। जो गर्व करे अपनी वर्तमान बुद्धिमानी चतुराईमें सो मूर्ख है। गर्वके लायक यहाँ कुछ नहीं है। किसी बड़े पुरुषको देखकर छोटा पुरुष गर्वमें नहीं आता। यहाँ तो बड़े धनिकको देखनेकी आदत बन रही है और यहाँ ज्ञानमें क्यों नहीं आ पाता बड़ा ज्ञानी केवली प्रभु उसे देखकर चलें, उसमें सम्पन्नताकी होड़ क्यों नहीं मचाते? सम्पन्न है तो स्वभाव या केवलज्ञान, बीचकी बातें ये सम्पन्न नहीं।

**ममता अज्ञानताकी विडम्बनाका एक दृष्टान्त** दो मूर्ख कहीं जा रहे थे तो रास्तेमें एक बुढ़िया मिल गई। उन दोनों मूर्खोंने कहा राम-राम, तो बुढ़ियाने कहा बेटा सुखी रहो। अब वे दोनों आगे निकल गए। वहाँ उन दोनोंमें लड़ाई होने लगी एक कहे कि बुढ़ियाने हमें आशीर्वाद दिया, दूसरा कहे कि हमें आशीर्वाद दिया। दोनोंमें झगड़ा हो गया तो दोनोंमें सलाह हुई कि चलो लौटकर चलें उस बुढ़ियाके पास और उसीसे पूछ लें कि तुमने आशीर्वाद किसे दिया? पहुंचे बुढ़ियाके पास और

पूछा बुढ़िया माँ बताओ तुमने आशीर्वाद हम दोनों मेंसे किसको दिया था? तो बुढ़िया बोली तुम दोनों मेंसे जो ज्यादा बेवकूफ होगा उसीको हमने आशीर्वाद दिया। तो अब वे दोनों इस बातमें झगड़ने लगे कि हम अधिक बेवकूफ हैं। एक कहे कि हम अधिक बेवकूफ दूसरा कहे कि हम अधिक बेवकूफ...बुढ़ियाने पूछा कैसे? तो एक बोला देखो हमारे दो स्त्री हैं। तो एक बार हम सीढ़ीसे अटारीपर चढ़े, तो एक स्त्री तो थी ऊपर और एक थी नीचे। तो एक स्त्रीने हमारा पैर खींचा, उसका कहना था कि ऊपर आओ और नीचे एक स्त्रीने हमारा पैर खींचा, उसका कहना था, नीचे आवो। तो इसी खींचातानीमें देखो हमारी टाँग टूट गई। हमें था दोनों स्त्रियोंसे प्रेम सो हमने किसीको डांट-डपट तो दिखाया न था, तो देखो हम कितने बेवकूफ निकले? तो बुढ़िया बोली ठीक है, तुम बेवकूफ हो। अब दूसरेसे कहा कि तुम अपनी बेवकूफीकी बात कहो, अच्छा सुनो देखो मेरे भी दो स्त्रियाँ हैं। सो एक बार मैं पलंगपर लेटा हुआ था। हमारे सिरहाने एक आलेमें सरसोंके तेलका एक दीपक रखा हुआ था। हमारे दोनों तरफ दोनों स्त्रियां पड़ी थीं। हमारे एक हाथपर एक स्त्री अपना सिर रखे सो रही थी और दूसरे हाथपर दूसरी स्त्री सिर रखे सो रही थी। वहाँ हुआ क्या कि एक चूहेने जलती हुई दीपककी बत्ती खींची और दौड़ लगाई तो उसके मुखसे छूटकर वह बलती हुई बत्ती हमारी आँखपर आ पड़ी। अब मैंने सोचा कि यदि मैं आँख परसे इस बत्तीको दाहिने हाथसे उठाता हूँ तो इस स्त्रीके आराममें फर्क आ जायेगा और यदि बायें हाथसे उठाता हूँ तो हमारी इस स्त्रीकी निद्रा भंग हो जायेगी, सो उनको कष्ट होगा। ऐसे अनुरागके कारण मैंने वह बत्ती न उठायी सो देखो मेरी यह आँख फूट गई। सो देखो मैं कितना बेवकूफ हूँ? तो बुढ़िया माँने कहा बेटा हमने तुम दोनोंको आशीर्वाद दिया। तो जगतमें जो मोह करता, गर्व करता, मूढ़तामें होड़ लगाता वह तो दीन गरीब प्राणी हैं।

**शुद्ध भावना रखकर आत्मोद्धारमें पौरुष करनेका अनुरोध** हम यदि स्वभावदृष्टिका रूप रख रहे हैं। देखो अपनी बात खुद गवाह दे देती है कि तुम्हारा ध्यान किस ओर बना रहता है? अगर हमारा ध्यान एक चैतन्य स्वभाव अपने सहजस्वरूपकी ओर रहा करता है, उसकी ही धुन रहती है, उसका ही सारभूत होनेका चित्तमें ख्याल रहता है तब तो हमारा सुधार है। जिससे कि हमारा सत्समागम सार्थक है और ऊपरकी बातमें जो रहता है, चाहे वह ज्ञान चर्चाकी ही बात क्यों न हो, इसमें हम यह कहते कि ये तो हमारे विरोधी हो गए। यों कषाय शल्य रखने वाले लोगोंकी दुर्दशा ही परिणाम है। अरे-अरे अपने इस उपयोगको इस ज्ञानसमुद्रसे हटाकर रेतीली जमीनमें क्यों उचका रहे? कोई मछली समुद्रसे उछलकर रेतीली जमीनमें गिरे तो उसकी खैर है क्या? नहीं है खैर, ऐसे ही अपने इस ज्ञानस्वभावसे हटकर लटकाया, फिकाया तो इसमें कुशलता नहीं है। जरा सब जीवोंके ज्ञानस्वभावका निरखकर एक बार तो सबमें एक रस हो जावो। न यह देखो कि यह एकेन्द्रिय है, न यह देखो कि यह कीड़ा-मकौड़ा है और यह देखो कि यह अमुक है। एक बार तो उन सब जीवोंमें चैतन्य स्वभावका आश्रय कर अन्तः एकरस तो हो जावो। ऐसी मित्रता बनाओ। आदमियोंकी बात



तो दूर रहे सर्वजीवोंसे मित्रता हो। और फिर देखो चार भावनायें कही गई हैं सब जीवोंमें मैत्रीभाव रखना, गुणियोंमें प्रमोद रखना, दीन-दुःखियोंके प्रति दया रखना, उजड़, गुण्डा, बदमाशोंके प्रति मध्यस्थता रखना। आप इन चार बातोंका पालन करें तो इसमें आपकी सुरक्षा है। सर्वजीवोंके प्रति मित्रताका भाव हो, सब मेरे बिरादरीके हैं, सब जीव चैतन्यस्वरूप ही तो हैं, और ज्ञानियोंको देखकर हर्ष हो। क्योंजी, सब जीवोंको देखकर मित्रताका भाव किसके नहीं होता? जो पर्याय बुद्धि वाला है, जिसकी देहमें अहंकार है, यह ही मैं हूं, मैं अच्छा हूं, ऐसा जीव सब जीवोंमें मित्रताका भाव नहीं रखता और ज्ञानियोंको देखकर प्रमोद किसे नहीं होता? तो ज्ञानवान हों, चारित्रवान हों उनको देखकर हर्ष किसको नहीं होता? जो मूढ़ हैं, मूर्ख हैं, जिनको अपने इस वर्तमान पर्यायपर गर्व है और जिसने अपनेको समझ रखा कि मैं उच्च हूं, उसकी निगाहमें गुण कुछ चीज नहीं। फिर गुणी जनोंको देखकर उसे हर्ष कैसे होगा? जो खुद आत्मसेवाप्रेमी है, जिसको गुणोंका लक्ष्य बना है, जिसको गुणोंका अन्दाजा है। वह गुणोंको देखकर हर्ष बिना रह नहीं सकता। गुणार्थी बनें जिससे कि गुणियोंमें प्रमोद बने। दोषार्थी रहेंगे तो घृणा बनेगी और उस दोषार्थीके उपयोगपर घृणा लदेगी, वह स्वानुभवसे कोसों दूर रहेगा। तीसरी भावना क्या है? दीन-दुःखियोंको देखकर दयाका भाव आना। जितनी सामर्थ्य है उतना तो दुःखियोंका दुःख दूर करें। कोई दुःख सामने है तो थोड़ा सहकार उसका कर दें। अपनी दयाकी प्रकृति बना लें और जो उजड़ हैं, जिनकी वृत्ति है अज्ञान की, दरिद्र हैं, साधु-संतसे घृणा करते हैं, बुद्धिका दिवाला जिनके है ऐसे लोगोंमें रागद्वेष तजकर मध्यस्थ भाव रखें। देखो जी जो उजड़ हैं, गुण्डे हैं उनमें राग करो तो आफत और बैर करोगे तो आफत, इसलिए मध्यस्थता बताया है। ऐसा अपना जीवन बनावें। अपना उत्थान जिसमें हो वह तरकीब बना लें।

**मति श्रुतज्ञानके एकदेशतः प्रामाण्यकी समझका प्रतीतिसे अविरोध** हम आपके यहाँ जो परिणमन चलते हैं, पर्यायें हो रही हैं, उनमें सार कुछ नहीं है। वे सब अधूरी बातें हैं। प्रमाणमें क्या कहा गया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो तो अपने विषयमें भी एक देशप्रमाण हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान ये दो अपने विषयमें पूर्ण प्रमाण हैं और केवलज्ञान सर्वविषयोंमें सर्वप्रकार प्रमाणभूत है। देखो अपनी-अपनी प्रतीतिसे भी समझ लो। कोई विरोध नहीं। जिनकी दृष्टिमें कोई विकार नहीं, आँखें साफ हैं उनको जैसे चन्द्र सूर्य दीखा तो आँखों देखा ना, प्रमाण है ना? प्रमाण है। अब कितना छोटा है, कितना बड़ा है, कितनी दूर है, यह उससे यथार्थज्ञान नहीं बना। तो उस चन्द्रकी जो एक मोटी रचना है और उसकी चमक है उतने ज्ञानमें तो यह दुष्ट प्रमाण है हमारा ज्ञान, मगर कितना लम्बा, कितना चौड़ा, कैसा माप, उसमें जो चाक्षुषज्ञानमें जंच रहा वह पुष्ट प्रमाण नहीं। तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषयमें एकदेश प्रमाण हैं, ऐसी प्रतीति सभी मनुष्योंको बराबर बन रही है।

**प्रमाणकी प्रमाणताके परिचयके चिन्ह** प्रमाण समझनेके हमारे चार तरीके हैं। तीन तो विधिरूप और एक निषेधरूप। हमारा यह ज्ञान प्रमाण है, इसका निश्चय करने वाले तीन तो हैं विधिके उपाय और एक है निषेधका उपाय। जानकारी हो रही और अन्य प्रमाणोंसे भी वैसा ही जाना गया, और

लोगोंने भी ऐसा जाना। इससे जान लिया कि मैंने जो जाना वह सही जाना। इसे कहते हैं प्रतिपत्ति। ज्ञान सम्वादक है, प्रमाणभूत है। इसका पहला चिन्ह है प्रतिपत्ति। हम जान रहे हैं, फिर और ज्ञानियोंने उसे जाना, तब जाना कि हाँ बराबर प्रमाणभूत है और दूसरा चिन्ह है प्रवृत्ति। जो जाना उसके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति होती है। जाना कि पानी है तो चलते हैं पानीके पास। जाना कि आग है तो हटते हैं अथवा रोटी बनानेको उसके पास पहुंचते हैं। तो यह जो हमारी प्रवृत्ति बनती है यह प्रमाणताका चिन्ह है कि जो ज्ञान हमने जाना वह प्रमाणभूत है। तीसरा चिन्ह क्या है? प्राप्ति। जैसा जाना वैसा मिल गया। बताओ उसकी प्रमाणतामें क्या संदेह रहा? तो ये तीन तो हैं विधिरूप चिन्ह और चौथा है अभावरूप उपाय, वह क्या बाधकका अभाव? जो जाने उसका ख्याल बताने वाला कोई ज्ञान न मिले तो समझो कि प्रकृत ज्ञान ठीक ही है। तो इस तरह हमारे ज्ञानोंमें जो सापेक्ष प्रयोजनकी बात सामने आती है उतनेको तो हम ठीक ही जानते हैं। पर उस वस्तुके विषयमें यह प्रमाण नहीं बना। इस प्रकार यह ज्ञान हमारे प्रयोजनके प्रसंगमें सम्वादको लेकर प्रमाणभूत होता है। इस तरह प्रमाण ज्ञान ही होता है, अज्ञान प्रमाण नहीं कहलाता। इस तरह इस प्रसंगमें यहाँ तक यह व्यवस्था बतायी कि सर्व ज्ञानोंमें केवलज्ञान सर्वथा प्रमाण, अवधि, मनःपर्ययज्ञान अपने विषयमें पूर्णप्रमाण और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने विषयमें एकदेश प्रमाण है। हम आप लोग मतिज्ञान, श्रुतज्ञानके अधिकारी हैं और वे सब अपूर्ण हैं। हम उस ओर कुछ सम्पन्नताकी दृष्टि न दें और बालकोंकी तरह गर्वरहित हों। बालकोंमें कहाँ ज्ञानका घमंड होता? उनको तो जाननेकी जिज्ञासा रहती है। जाननेके लिए वे लालायित रहते हैं, जो समझमें आ गया उस ओर बढ़ते हैं। तो इस प्रकार अपने अपूर्ण ज्ञानपर्यायकी बात समझकर वहाँसे दृष्टि हटाकर एक सम्पन्न जो मेरा ज्ञानस्वभाव है उसको अपनाओ। उसमें यह मैं हूँ ऐसी प्रतीति बनाओ, अनुभव बनाओ।

**मतिज्ञान व श्रुतज्ञानकी देशतः प्रमाणताका स्मरण** चर्चा यह चल रही है कि हम आपके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषयमें एकदेश रूपसे प्रमाण हैं। देखो यहाँ यह भी न बोलना कि जो देशनात्मक श्रुत है, द्रव्यश्रुत है, आगम है, भगवानकी दिव्यध्वनिकी मूल परम्परासे चला आया हुआ है, गणधरदेव ने जिसका व्याख्यान किया है तथा द्वादशांगकी रचनाकी है और आचार्योंने जिसको विशेष विस्तारमें लिखा है वह सब पूर्णरूपसे प्रमाण है। वहाँ एकदेश वाली बात नहीं है, किन्तु हम जो समझ पाते हैं उस समझकी बात कह रहे हैं कि हमारा जो श्रुतज्ञान है वह अपने विषयमें एकदेश प्रमाण है। इस सम्बंधमें बहुत कुछ वर्णन किया गया व दृष्टान्त भी अनेक दिए गए। अब इन सब विवरणोंको सुनकर जिसमें यह बताया गया था कि जिसकी दृष्टियाँ निर्मल हैं, आँखमें कोई दोष नहीं है वह जैसे चन्द्र, सूर्यको देखता है तो देखो चन्द्र, सूर्य ऐसे हैं, बहुत ऊपर हैं, आकाशमें हैं, यह सब ज्ञान तो प्रमाणभूत है, पर यह कितना बड़ा है, कितना चौड़ा है, इस बातमें हमारे ज्ञानकी प्रमाणता नहीं बन पायी और इस-इस तरहसे अनेक दृष्टान्तों द्वारा सिद्ध किया गया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक देशरूप प्रमाण हैं।

**मिथ्या ज्ञानोंकी स्वरूपमें व अल्पांशमें प्रमाणताविषयक चर्चा** उक्त बातको सुनकर अब शंकाकार क्या कहता है (यह एक कुछ नया विषय है, ध्यानसे सुनो) कि जब यह बताया कि इन ज्ञानोंमें कुछ-कुछ अंशोंमें प्रमाणता आती है, तो सभी ज्ञान ऐसे ही होने चाहिए। स्वप्नमें जो दीखा, पीलिया रोग वालेने जो समझा या कभी चकाचौंध लगती है उस समय जो कुछ निरखा गया उन ज्ञानोंको तो लोग झूठ ज्ञान कहते हैं ना? जो स्वप्नमें देखा गया वह ज्ञान झूठा है। पीलिया रोग वालेको सब चीजें पीली ही पीली दिखीं। कितना ही सफेद बंगला है, मगर पीलिया रोग वालेको पीला ही नजर आता है तो ऐसा ज्ञान झूठा है ना, तो ऐसे ही झूठे-झूठे ज्ञान हैं, उनमें भी एकदेशसे प्रमाणता क्यों न मान ली जाये? अज्ञानमें भी एकदेश प्रमाणता मानो। सर्वदेश प्रमाणकी बात हो रही नहीं। तो सारे ज्ञान चाहे कितने ही झूठे हों उनसे कुछ ज्ञान तो होता ही है, फिर वे भी कुछ प्रमाण मान लिए जाने चाहिए। तो इसके समाधानमें कहते हैं कि तुम्हारी बात शंकाकी नहीं है, किन्तु यह तो सही बात बोल रहे। हम इसे शंका नहीं समझते। सभी ज्ञान किसी न किसी अंशरूपमें प्रमाण हैं। जैसे कि सभी मनुष्य किसी न किसी अंशमें गुणवान हैं। आपको एक भी मनुष्य ऐसा न मिलेगा कि जिसमें किसी भी रूपसे गुण न हों। गुण भी पाये जाते, दोष भी पाये जाते। तो ऐसे ही मिथ्या ज्ञानमें भी यह बात है कि वह कुछ न कुछ अंशमें सही बात बतलाता है। जैसे पीलिया रोग वालेने जाना तो शंखको पीला, मगर शंख पदार्थ इतना तो उसने सही जाना ना। अब पीला रूप है, यह बात यदि झूठ हो गई तो क्या सारी बात झूठ हो गई? किसीने दूरसे सीपमें चाँदीका ज्ञान किया कि थी तो सीप और जान गए चाँदी उल्टा ज्ञान हुआ तो वहाँ मिथ्या ज्ञान है। वह चाँदी है, ऐसा ज्ञान करना अप्रमाण है, मगर जो सफेद-सफेद नजर आया, क्या वह भी झूठ नहीं है। वह चाँदी है, इस प्रकार अन्य पदार्थमें अन्य प्रकार का, अन्य प्रकारकी सत्ताका बोध किया, यह प्रमाण है। जैसे कोई पुरुष बड़े सवरे कुछ अंधेरेमें घूमने जाता है। अब उसे रास्तेमें बहुत दूर एक टूठ खड़ा दिख गया, कोई ६-७ फीटका ऊँचा तो उस छुटपुटेमें टूठ दिखनेसे ऐसा उसने भ्रम कर लिया कि यह कोई आदमी खड़ा है। खड़ा तो था टूठ और ज्ञान बन गया कि यह आदमी खड़ा है तो बोलो वह ज्ञान तो मिथ्या है ना? आदमी तो नहीं है, विपरीत ज्ञान है, पर इस ज्ञानके समयमें भी कुछ इतना ऊँचा-सा खड़ा, इतना मोटा-सा पदार्थ है यह ज्ञान भी झूठा है क्या? यह ज्ञान तो सही है। तो सभी ज्ञानोंमें हम आपके चाहे मिथ्या ज्ञान हों, चाहे सम्यग्ज्ञान हों, सभी ज्ञानोंमें यह बात पायी जाती है कि कुछ तो उसमें अच्छापन है?

**प्रामाण्य व अप्रामाण्यके व्यवहारके आधारका विवरण** उक्त चर्चा सुनकर अब शंकाकार कहता है कि तुमने तो सब कुछ मचा डाला। कुछ व्यवस्था ही न रही। शंकाकार कहता है आचार्यसे कि आपने तो सबको एक लाठीसे हाँक डाला। मिथ्याज्ञान हो तो, सम्यग्ज्ञान हो तो सबको एक-सा ज्ञान बना दिया कि जितने ज्ञान होते हैं वे सब ज्ञान कोई न कोई अंशमें तो सच्चे ही होते हैं, चाहे मिथ्याज्ञान हो, चाहे सम्यग्ज्ञान हो तो ऐसा बोलनेमें समझनेमें तो सारे व्यवहार खत्म हो जायेंगे। यह

ज्ञान झूठ है, यह ज्ञान सच्चा है, यह व्यवहार ही फिर न रहेगा और जब प्रामाण्य व्यवहारन मिला तो प्रवृत्ति भी न रहेगी, अर्थक्रिया भी न रहेगी, काम-काज भी न बनेगा, और कुछ मिलेगा भी नहीं। इसलिए ऐसा कहना तो ठीक नहीं जंचता। तो आचार्य उत्तर देते हैं कि सुनो जो बात जहाँ सो सही है उसे तो डटकर बोलना ही चाहिए। प्रत्येक ज्ञान कुछ न कुछ अंशमें प्रमाणरूप होता है। अगर न हो तो वह ज्ञान ही नहीं बन सकता। अब रही हमारे व्यवहारकी बात, सो सुनो व्यवहार जो होता है कि यह प्रमाण है और यह अप्रमाण है, ऐसा जो प्रमाणपनेका व्यवहार है वह प्रयोजन और सम्वादके आधीन होता है; अर्थात् जिस ज्ञानमें विसम्वाद अधिक है वह है अप्रमाण। प्रमाण जैसे सीपको चाँदी जान लिया तो यह जो सफेद दीखा वह प्रमाण है, मगर यह चाँदी है, यह अप्रमाण है। तो जरा यह बतलाओ कि तुम सफेदपर दीवाने बन रहे हो कि चाँदी पर? तुम्हारे दिलमें क्या मुराद है? तुम चाहते क्या हो ? तुम्हारा प्रयोजन क्या है? तुम सफेद-सफेद देखकर खुश होना मंजूर करते हो या चाँदी तुम्हारे हाथमें आये यह मंजूर करते हो? तो वे कहेंगे हमें तो चाँदी हाथमें लेना मंजूर है। सफेद-सफेद देखनेसे क्या मतलब? तो तुम्हारा जो प्रयोजन है उसमें तो वह ज्ञान झूठा है, इसलिए अप्रमाण है। दूसरी बात उसमें विसम्वादकी मात्रा अधिक है। सफेदकी मात्रा प्रयोजन ही नहीं। इसलिए अप्रमाण है। जहाँ विसम्वाद विशेष हो वह अप्रमाण और जहाँ सम्वाद विशेष हो प्रमाण। प्रमाणता अप्रमाणताका व्यवहार इस प्रकार है।

**प्रमाण व अप्रमाण नाम रखे जानेका कारण** भैया! इस बातपर मत घबराओ कि यहाँ जो यह बताया जा रहा कि चाहे कितना सा भी झूठा ज्ञान हो, कोई न कोई अंशमें उसमें भी सच्चाई है। यदि कोई शत्रु है तो उसमें कोई न कोई गुण है। तो उस गुणसे भी मुकर जायें, यह तो कोई विवेक नहीं, न सज्जनता है। मिथ्याज्ञान है, अप्रमाण है। और फिर अर्थक्रिया नहीं बनती और न उसके विषयकी प्राप्ति होती है, इसलिए अप्रमाण है। मगर उस कालके लिए जो जितने अंशके लिए कुछ बोध हो उसमें भी कुछ अंश तो प्रमाण है तथा स्वरूपमें तो प्रमाण है ही, मगर वह प्रमाण न कहा जायेगा, क्योंकि उसमें प्रयोजन सिद्ध नहीं है। उसके खिलाफ ज्ञान है और विसम्वाद अधिक है। और फिर दूसरी बात थोड़ी देरमें पास जाकर देखा तो सीप नजर आयी तो निर्णय हो गया कि उसका ज्ञान बिल्कुल झूठा था। तो प्रमाणपनेका व्यवहार अनेक सम्वादके आधीन है। हमने भी जाना और वहाँ पास बैठे हुए जो लोग हैं वे भी ऐसा जान लें तो समझो कि प्रमाण है अथवा उसके बारेमें ज्ञानकी अर्थक्रिया बन जाये कि उठा लें, हम जबमें रख लें तो समझो कि प्रमाण है, पर यह व्यवहार कुछ नहीं बनता, इसलिए मिथ्या ज्ञान अप्रमाण है। जहाँ सम्वाद विशेष हो वह तो प्रमाण और जहाँ विसम्वाद अधिक हो वह अप्रमाण। इसी आधारपर प्रमाण और अप्रमाणका नाम रखा गया है, जैसे कि जिन फलोंमें रस अधिक है उनका नाम रसद्रव्य है, रसभरी, मौसमी, नींबू आदिक ये रसद्रव्य कहलाते हैं। जिनमें गंध अधिक हो वे गंधद्रव्य कहलाते हैं; जैसे हींग, कस्तूरी आदिक। हैं तो उनमें बहुत बातें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक सब, मगर एक ही नाम क्यों लिया गया? वह विशेष है,

उसकी प्रमुखता है। ऐसे ही जहाँ सम्वाद विशेष है वह प्रमाण और जहाँ विसम्वाद विशेष हो वह है अप्रमाण।

**दार्शनिकोंमें निष्पक्ष निर्णायकता** देखो यहाँ दार्शनिक आचार्योंकी कितनी निष्पक्षता है? जैसे किसी माताको सपूत और कुपूत दोनोंमें स्नेह है और दोनोंमें गुण दिखता है, ऐसे ही प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान इन दोनोंमें वह गुणकी बात बतायी जा रही है। एक अप्रमाण है, एक प्रमाण है। फिर भी यह जानें कि कितना ही अप्रमाण ज्ञान हो वह अपने आपमें तो प्रमाणभूत है और बाह्य विषयोंके बारेमें अप्रमाणभूत है। तो एक न्यायविधिसे अनुमान प्रमाणकी मुद्रामें इस बातको रख रहे कि सम्यग्ज्ञानमें ही प्रमाणका व्यवहार होता है, क्योंकि वहाँ ही अनेक सम्वाद पाये जाते हैं। सम्वादका अर्थ समझे, क्या? हम भी जानें? और भी जानें वैसा ही। और उस ही चीजको फिर और-और ज्ञानोंके द्वारा भी वैसा ही जानें इसे कहते हैं सम्वाद। जिस चीजको जाना, उसके लिए हमारा पौरुष बने, अर्थक्रिया बने, आकर्षण बने या हटना बने, कुछ काम बने उसे कहते हैं सम्वादी। जिस वस्तुको हम जानें उस वस्तुको ग्रहण कर सकें उसे कहते हैं सम्वाद। तो जहाँ सम्वाद अधिक है वहाँ प्रमाणताका व्यवहार होता है। और इस तरहका प्रमाण सत्य ज्ञान ही हो सकता है, मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता है। अब इस अप्रमाणकी मुद्रा तको। जो झूठा ज्ञान है उसमें अप्रमाणताका व्यवहार होता है क्योंकि वहाँ विसम्वाद बहुत पाये जाते हैं। न वहाँ अर्थक्रिया बनती है और न वहाँ चीज मिलती है और न वहाँ बाधकप्रमाणका अभाव है, इसलिए अप्रमाण है।

**मति श्रुतज्ञानोंमें सर्वथा प्रामाण्य व सर्वथा अप्रामाण्यकी असिद्धि** अब उक्त व्यवस्था बतानेके बाद उन दार्शनिकोंके लिए आपत्ति देते हैं। जो दार्शनिक यह मानते हैं कि कोई सा भी ज्ञान हो जो प्रमाण है सो प्रमाण ही है जो अप्रमाण है सो अप्रमाण ही है। एकदेश वाली बात कुछ नहीं है। तो देखो जो ऐसा मानें कि सम्यग्ज्ञान तो पूरे अंशमें एकान्त रूपसे प्रमाण ही है और मिथ्याज्ञान सर्व अंशोंमें पूरा अप्रमाण ही है। ऐसा जो कहें वे जरा यह बतायें कि मिथ्या ज्ञानके बारेमें अगर यह निर्णय बनाया है कि यह मिथ्या ज्ञान है तो बताओ कुछ प्रमाणपना आया ना? अरे झूठ बोलने वाला खूब झूठ बोले और अपने मुखसे कहे कि मैं झूठ बोलता हूँ तो इतनी तो उसकी सच्चाई मानोगे कि नहीं मानोगे? भले ही कोई बिल्कुल झूठ बोल रहा हो, साराका सारा झूठ बोल रहा हो, मगर वह यह कह दे कि मैं झूठ बोलता हूँ तो उसका इतना अंश भी क्या सच्चा नहीं हो सकता? मिथ्या ज्ञानसे हमने बाहरमें जाना कि यह चाँदी है, पड़ी थी सीप, तो जब यह जान रहा है ज्ञान तो उसकी निगाहमें ज्ञान है, जान रहा है, समझता है, ऐसा जान रहा हो तो उस ज्ञानके स्वरूपमें तो वह प्रमाण है ना? बाह्य वस्तुके बारेमें अप्रमाण है, क्योंकि वहाँ सीप ही है, चाँदी नहीं है और जाना चाँदी। देखो दार्शनिक लोग कितने निष्पक्ष होते हैं, ऐसे निष्पक्ष जैसे कि कोई राजाओंकी कहानी आती है कि पुत्र भी अगर अन्याय करे तो उसे भी शूलीपर चढ़ा देते हैं और शत्रु भी अगर कोई गुणका काम करे तो उसे अपना सर्वस्व बना लेते हैं। इसी तरहकी निष्पक्षता दार्शनिक विद्वानोंमें होती है।

जैसे आजकलके भी दार्शनिक लोग किसी तत्त्वकी खोज करते हों तो खोज करते-करते यदि उसके कुलके मजहबके भी दोषकी बात आये तो उसे सामने रखनेमें वे चूकते नहीं हैं। दार्शनिक लोग कितने निष्पक्ष हुआ करते हैं? यदि इतनी निष्पक्षता न हो तो उनमें दार्शनिकताका विकास हो ही नहीं सकता। इतना स्पष्ट कहा गया है। फिर भी हम आपके ज्ञान अपने प्रायोजनिक अंशोंमें प्रमाण हैं। सर्व अंशोंमें प्रमाणताका दावा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मिथ्याज्ञान प्रायोजनिक अंशमें अप्रमाण हैं। फिर भी उसमें सर्व प्रकारसे अप्रमाणता नहीं लादी जा सकती, स्वरूपमें तो प्रामाण्य है ही। अब रही प्रमाणपनेकी बात और अप्रमाणपनेका व्यवहार तो वह व्यवहार सम्वाद और विसम्वादके आधारपर है। जहाँ अनेक सम्वाद हों वह तो है प्रमाण और जहाँ अनेक विसम्वाद हों वह है अप्रमाण।

**आन्तरिक आत्मचर्चामें असुगमताका अटपटापन** यह चर्चा किसी दूसरेकी नहीं चलायी जा रही है। यह सबकी अपनी आपके भीतरके स्वरूपकी चर्चा है। हम सब ज्ञानस्वरूप हैं और पर्याय बिना कोई द्रव्य एक क्षण भी ठहर नहीं सकता। निरन्तर प्रति समय पर्याय होती ही रहती है। तो ज्ञानस्वरूप निजपदार्थमें कैसी परिणतियाँ चला करती हैं उन परिणतियोंकी बात कही जा रही है कि हम आपके जो ज्ञानकी वृत्ति चलती है वह इस तरहसे प्रमाणभूत है और अप्रमाणभूत है। जहाँ सम्वाद विशेष है वह प्रमाण और जहाँ विसम्वाद विशेष है वह अप्रमाण कहलाता है। जरा उपयोग लगाकर सुनो तो विषय कुछ कठिन नहीं लगता। यह भीतरके ज्ञानकी चर्चाकी जा रही है। अपनी चर्चाकी जाये तो कैसा जल्दी कान खड़े हो जाते हैं और जहाँ अपने भीतरकी चर्चा चल रही हो वह बात क्यों न समझमें आयेगी? तत्प्रमाणे इस सूत्रमें जो सामान्यतया कहा कि वह ज्ञान प्रमाणरूप है उसका ही यह विश्लेषण चल रहा है।

**स्वसंवेदन और अर्थसंवेदनके प्रकरणका स्मरण** अपने आत्माके ज्ञानका विकास देखते जाओ। दार्शनिकशास्त्र और करणानुयोग ये बहुत सूक्ष्म तत्त्वका वर्णन करते हैं। अभी तक सिद्धान्तमें सुनते आये ना कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये प्रत्यक्ष हैं। तो अब देखो प्रत्यक्षज्ञानमें तो कुछ कहना नहीं है, वह तो भली प्रकार प्रत्यक्ष है, स्वसंवेदनमें भी और अर्थसंवेदनमें भीपर मतिज्ञान, श्रुतज्ञानके अन्दर यह निरखें कि ये क्या परोक्ष परोक्ष ही हैं या प्रत्यक्ष भी हैं? दूसरी बात जो पहले चले आये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान प्रमाण हैं और जरा उनमें यह भी देखें कि क्या सर्वथा प्रमाण हैं, या कुछ अप्रमाण भी हैं? देखो दार्शनिक शास्त्रसे जो निर्णय बनेगा और उसके सूक्ष्म तत्त्वका परिचय पायेंगे तो एक बार अब तककी मानी हुई बातमें क्रान्ति-सी मच जायेगी, पर क्रान्ति नहीं होना, आचार्य संतोंकी वाणी निर्दोष है। कहते आये ना कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान प्रमाण हैं, पर देखो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अपने नियत विषयमें एक देशप्रमाण हैं, पर अन्य विषयमें अप्रमाण हैं। तो व्यवहार कैसे बना? प्रमाण है कि अप्रमाण? जहाँ प्रयोजनमें बाधा न हो, सम्वाद अधिक हो वह है प्रमाण। जो प्रयोजनसे दूर हो या जिसमें विसम्वाद हो वह है

अप्रमाण। तो अब आज एक नई चर्चा सुने बात कहेंगे आपकी, हम आप लोग जो जानकारी किया करते हैं उस जानकारीमें दो बातें होती हैं (१) स्वसम्वेदन और (२) अर्थसम्वेदन। जैसे जाना कि यह चौकी है तो चौकीका ज्ञान हुआ और जिस ज्ञानसे जान रहे उस ज्ञानका भी ज्ञान चल रहा। तो जिस ज्ञानसे जान रहे उस ज्ञानके ज्ञानका नाम तो है स्वसम्वेदन और उसमें जो बाहरी पदार्थ जाने जा रहे हैं उसका नाम है अर्थसम्वेदन। हम आपके ज्ञानकी दो पद्धतियाँ हैं। एक तो पदार्थको जानना और जिस ज्ञानके द्वारा जानते इस ज्ञानका भी ज्ञान बना रहना। अपने आपके भीतरमें कुछ दृष्टि देकर अनुभवसे निर्णय कर लें। होते हैं ना ये दो काम? तो जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं उस ज्ञानके ज्ञान होनेका नाम है स्वसम्वेदन और उसमें जो बाहरी पदार्थ जाने जाते हैं उसका नाम है अर्थसम्वेदन।

**स्वसंवेदन व अर्थसंवेदनके विषयमें प्रत्यक्षता-परोक्षता प्रमाणता-अप्रमाणताके विषयमें समस्याओंका समाधान** स्वसंवेदन और अर्थसंवेदनके विषयमें दार्शनिकोंकी दो राय हैं एक दार्शनिक यह कहता है कि जिस पदार्थको जाना याने अर्थसम्वेदन हुआ वह तो साफ स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है और जिस ज्ञानके द्वारा जाना याने स्वसम्वेदन यह परोक्ष होता है, यह जानकारीमें नहीं रहता। तो दूसरा दार्शनिक कहता है कि नहीं-नहीं, जिस ज्ञानके द्वारा जाना जाता है वह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है और जो जाना जाता है उस पदार्थका ज्ञान स्पष्ट नहीं होता, वह परोक्ष है। तो हैं ये दो रायें, मगर सिद्धान्त क्या है कि सभी ज्ञान अपने स्वरूपसम्वेदनमें प्रमाणभूत हैं, प्रत्यक्ष हैं, स्पष्ट हैं और बाह्य पदार्थोंके ज्ञानके सम्बन्धमें कोई ज्ञान प्रत्यक्ष है, कोई ज्ञान परोक्ष है। जैसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। सिद्धान्तमें दो बातें सुनते तो आये सब लोग कि दो ज्ञान परोक्ष हैं, तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं, पर यह बात न समझ सके दर्शनशास्त्रके अध्ययन बिना कि सभी ज्ञान अपने स्वरूपकी समझमें प्रमाण हैं, प्रत्यक्ष हैं, स्पष्ट हैं दो प्रमाणरूपका वर्णन अर्थसंवेदनकी अपेक्षासे है। अब उनके बारेमें एक-एक विकल्पका समाधान देखिये। यदि सर्वज्ञानोंको स्वरूपमें अप्रमाण मान लिया जाये, जैसे कि बौद्ध शंका करते हैं, तो कहते हैं कि इसमें तो उनके दर्शनमें ही विरोध आ गया, क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि समस्त आत्मावोंका ज्ञान आत्मसम्वेदनमें प्रत्यक्ष होता है, “सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्” आप एक बात और सुनो बतलावो जो स्वानुभव होता है ना ज्ञानमें ज्ञानका समा जाना और उस ज्ञानका अपने ज्ञानमें स्पष्ट होना, जिसे आत्मानुभव कहते, स्वानुभव कहते, बतलावो यह प्रत्यक्ष है कि परोक्ष? अब समस्या तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष तो यों नहीं कह सकते कि अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये तीन माने गए हैं प्रत्यक्ष, किन्तु मति, श्रुत तो नहीं माने गए प्रत्यक्ष, उन्हें कहा है परोक्ष, सो यों नहीं कह सकते कि वह स्वानुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है तथा स्वानुभवको परोक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वानुभव इन्द्रियमनसे उत्पन्न होता नहीं। इन्द्रिय और मनसे जो उत्पन्न हो सो परोक्ष है। क्या उत्तर देंगे? भाई निकटताकी अपेक्षा तो परोक्ष है, क्योंकि मति, श्रुतकी धारामें ही चलकर वह हमारा स्वानुभव बना, लेकिन साक्षात् वर्तमान क्षणकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है और उस ही जैसी झाँकी

इस प्रकरणमें आ गयी कि सभी ज्ञानस्वरूपके संवेदनमें तो प्रत्यक्ष है, प्रमाण है और बाह्य पदार्थोंके ज्ञानमें कोई परोक्ष है, कोई प्रत्यक्ष है, कोई प्रमाण है, कोई अप्रमाण है। यदि सभी ज्ञानोंको स्वरूपमें भी अप्रमाण या परोक्ष मान लिया जाये तो उनके ही मतका सिद्धान्त है।

**स्याद्वादके आश्रय बिना सच होकर झूठ** स्याद्वादशासन एक ऐसा हितकारी शासन है कि जो इस जीवको सुरक्षित धाममें पहुंचा देता है। ज्ञानके विषय अनेक हैं, पर कोई विषय ऋजुसूत्रनयका है, कोई विषय व्यवहारनयका है, कोई विषय द्रव्यार्थिकनयका व कोई शुद्धनयका है। मुख्य तीन-चार बातें यहाँ बतला रहे। किसी भी नयका एकान्त कर लिया गया तो उस नयकी बात सच होकर भी झूठ हो जाती है। जैसे ऋजुसूत्रनयका विषय यह है कि प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है, अहेतुक है, वह पूर्वपर्यायसे उत्पन्न नहीं होता है। यह विषय ऋजुसूत्रनयका है और ऋजुसूत्रनय जैन सिद्धान्तका ही एक अंग है यह बात ऋजुसूत्रनयसे सत्य है लेकिन जब इसका प्रतिपक्षीनय जो है व्यवहारनय, द्रव्यार्थिकनय उसका विरोध अगर करें, सर्वथा ही ऐसा मानें और कहें कि संतान नहीं है, ऐसा ही है, पूर्वपर्यायसे कुछ मतलब नहीं, स्वतंत्र है तो यह बन गया मिथ्यात्व और यह सिद्धान्त बन गया खुद बौद्धों का। बौद्धोंका यह सिद्धांत है ऐसा कि प्रतिसमयका जो पदार्थ है वह अहेतुक है, उसका पूर्व पदार्थसे मतलब नहीं। देखो सर्वथा ही ऐसा हो याने अगर पर्याय स्वतंत्र हो तो उसमें ६ साधारण गुण होने चाहिएँ। यह तो कायदेकी बात है। इसमें यह तो अ आ इ ईसे सिखायी जाने वाली बात है सो यह तो कोई कठिन बात नहीं। जो स्वतंत्र द्रव्य है, इसमें ६ साधारण गुण होते हैं यह तो समझमें आना कोई कठिन नहीं। तो पर्याय अगर स्वतंत्र पदार्थ है तो उसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व, ये गुण पाये जाते हैं क्या? जैन सिद्धान्तका यह क्रम है कि भक्तिपूर्वक यदि बच्चा भी सीखे तो उसे कहीं धोखा नहीं हो सकता। बोलो है क्या पर्याय प्रदेशवान? बोलो है उसमें वस्तुत्व, द्रव्यत्व? जो गुण पर्यायवान हो सो द्रव्य है। अब बतलावो यह पर्याय गुणपर्यायवान है क्या? पर्यायमें पर्याय है, गुण है क्या? हाँ यह ऋजुसूत्रनयसे तो ठीक है जैन सिद्धान्तने इसका समर्थन किया है। पर इसकी हठमें वस्तुस्वरूप नहीं बनता। देखो यही तो है जैनाभासोंका बौद्धदर्शन, जो सच होकर भी झूठ बन गया। वैशेषिक दर्शनमें देखिये वैशेषिक यह कहते हैं कि द्रव्य स्वतंत्र है, गुण स्वतंत्र है, पर्याय स्वतंत्र है, सामान्य स्वतंत्र है, विशेष स्वतंत्र है। तो एक नयसे अगर देखें तो स्वरूप एकका दूसरेमें नहीं है। जो द्रव्यका स्वरूप है वह गुण पर्याय सामान्य विशेषका नहीं, जो गुणका स्वरूप है वह द्रव्यपर्याय सामान्य विशेष इनका नहीं। जो सामान्यका स्वरूप है सो विशेष आदिका नहीं। अरे विशेषका स्वरूप है सो शेषका नहीं। यों भेद तो आ गया। ये ५ चीजें हैं, मगर कोई सर्वथा भेद करे तो वही आपत्ति आयेगी कि जैसे द्रव्यमें ६ साधारण गुण हैं तथा गुणपर्यायवत्ता है, ऐसे ही गुणमें भी बताओ, पर्यायमें भी बताओ, सामान्य और विशेषमें भी बताओ। हैं तो नहीं इन प्रत्येकमें गुण व पर्याय। तो देखो ये ५ बातें हैं जो भेददृष्टि सच हैं, पर प्रतिपक्ष नयका विरोध करनेसे सच भी झूठ बन गया। यह ही है व्यवहारका विषय जो



बताया। व्यवहार भेद करता है और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष ये भेद करना व्यवहारका विषय है। इसीका एकान्त कर लिया और अभेदनका आश्रय न लिया तो काम न बनेगा। वस्तुस्वरूप परिचयमें इतनी संकरी गली है जैनसिद्धान्तकी कि परम्परा गुरुचरणोंके प्रसाद बिना इनका मर्म नहीं समझमें आता।

**स्वरूपसंवेदनमें ज्ञानके प्रमाणत्वका नियम तथा विकल्पज्ञानमें प्रमाणत्वकी भाज्यता** प्रकृत बात यह कह रहे हैं कि हम आप सबका ज्ञानस्वरूपके संवेदनमें तो प्रमाण है और बाह्य पदार्थके परिचयमें कोई प्रमाण है, कोई अप्रमाण है। यदि स्वरूपसंवेदनमें अप्रमाण मान लिया जाये तो अनुभवसे विरोध है। फिर अर्थक्रिया न बन सकेगी और शंकाकारोंके मतसे भी दूर है यह कथन। अब दूसरी बात लीजिए अगर बाह्य विकल्प ज्ञान में, बाह्य पदार्थके ज्ञानमें उसे पूरा प्रमाण मान लिया जाये तो कितने ही प्रमाण मानने पड़ेंगे। बौद्ध जन कहीं अन्य जगहसे नहीं उत्पन्न हुए, ये स्याद्वाद (जैनशासन)से ही उत्पन्न हुए। कोई जमाना था ऐसा कि केवल एक ही दर्शन था स्याद्वाद और उसका ही सहारा लेकर सर्व साधु-संन्यासी जन अपने बाह्य पदार्थमें जो ज्ञान होता उसका नाम है विकल्पज्ञान और विकल्पज्ञानको जान लिया तुमने प्रमाण। तो जितने मिथ्याज्ञान हैं वे सब प्रमाण बन जायेंगे। जैसे मिथ्याज्ञान स्वरूपमें प्रमाण है उसी प्रकार पदार्थमें भी प्रमाण हो जाये। क्या शंकाकारका मतलब? जैसे पड़ी तो थी सीप और जान गए चाँदी तो यहाँ जो बोध चल रहा है कि चाँदी है, यहाँके ज्ञानका ज्ञान हो रहा है ना। तो जैसे ज्ञानका ज्ञान करनेमें हम प्रमाणता लाते हैं इसी प्रकार वहाँ चाँदीका ज्ञान भी प्रमाण मान लो, यह शंकाकार कहता है। क्षणिक वादी कह रहे हैं। समाधान सोचो कि यदि बाह्य अर्थविषयक मिथ्याज्ञान रूप विकल्पज्ञानको प्रमाण मान लिया जाये तो बताओ बौद्धोंने दो प्रमाण माने ना, प्रत्यक्ष और अनुमान। अगर प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हो तो उनके मतमें कहा है कि जो कल्पनासे रहित हो, भ्रान्तिरहित हो वह प्रत्यक्ष है, तो प्रत्यक्षका लक्षण यह है। किन्तु विकल्पज्ञानमें यह लक्षण घटित नहीं होता। अगर अनुमान बताओगे तो इन्द्रियसे जितने ज्ञान होते वे अनुमान बन जायेंगे। फिर साधन-साध्यकी कल्पना करना व्यर्थ है। सीधी बात है। हम जानते हैं कि यहाँ जो जाननेका परिणाम होता है वह तो हमारे ख्यालमें स्पष्ट है और बाह्य पदार्थोंमें हम जैसा जानते हैं वैसा हो या न हो। देखो एक ही ज्ञान प्रमाण रूप भी है और अप्रमाणरूप भी है। स्याद्वादसे मिला लो, लेकिन समानतासे नहीं समझना इन दोनोंको कि प्रत्येक ज्ञान जितना प्रमाण रूप है उतना ही अप्रमाण रूप है। दृष्टियाँ हैं, किसीमें प्रमाणता अधिक है, अप्रमाणता कम है और किसीमें अप्रमाणता अधिक है, प्रमाणता कम है। जहाँ अप्रमाणता अधिक है उसे कहते हैं अप्रमाण और जहाँ प्रमाणता अधिक है उसे कहते हैं प्रमाण।

**भूयःसंवादके आधारपर प्रामाण्यके व्यवहारकी व्यवस्था** यह मतिज्ञान, श्रुतज्ञानकी बात चल रही है। जितने आदमी यहाँ बैठे हैं कोई बता सकता है क्या कि इनमें कोई आदमी बिल्कुल स्वस्थ है? एक भी रोगी न हो ऐसा यहाँ कोई है क्या? कमसे कम यहाँ बैठे हुए लोगों मेंसे इतना तो तय है

ना कि इनमें कोई ऐसा नहीं बैठा कि जो पूर्ण स्वस्थ हो, एक भी रोग न हो। फिर भी इनमें कुछ इतनी छंटनी करते कि नहीं कि यह रोगी है, यह निरोग है? कहने लगते ना इसी आधारपर कि जिसमें रोगकी मात्रा अधिक है वह रोगी है और जिसके रोगकी मात्रा कम है वह निरोगी है, ऐसा भेद बनाना, व्यवहार बनाना, किन्तु यह परख लो, सबमें कोई न कोई रोग जरूर है। शरीरमें जितने रोम हैं उतने रोग हैं। अभी सिरके बाल ही गिनकर देख लो सारे रोम, उनसे भी अधिक रोम हैं, इतने रोग है शरीर में, पर जिसमें रोग कम है, स्वस्थताकी मात्रा अधिक है वह कहलाता है स्वस्थ और जिसके रोगकी मात्रा अधिक है वह कहलाता है रोगी। तो ऐसे ही यह हमारा कमजोर ज्ञान भी प्रमाण बन गया। हम दावेके साथ किसी ज्ञानको नहीं कह सकते कि हमारा ज्ञान सर्व अंशोंमें प्रमाणभूत है। सम्वाद अधिक है तो प्रमाण, नहीं है तो अप्रमाण। अब देखो कितनी मूढ़ता है कि अपने ही मनमें सोचकर हम जैसा कौन बुद्धिमान है और टन्नायेसे बैठे हैं। कितने ही लोग, यहाँ तक कि बड़े-बड़े विद्वान तक ऐसे हैं कि जो अपने सारे जगतको तुच्छ समझते हैं। तो दार्शनिक शास्त्रका अध्ययन करें उससे यह ज्ञान हो जाता कि हममें अभी कितनी गलतियां हैं, कितना हमको और बढ़ना है?

**अपने ज्ञानको पूर्ण माननेके भ्रमके आधारपर गर्वका नाटक** देखो हर जगह एक धर्मके मार्गकी ही बात नहीं कहते। लोकमें भी थोड़ी विद्या किसीने जान लिया और वे समझते हैं कि हम सबसे अधिक होशियार हैं, वे अपने आगे किसीको कुछ नहीं समझते। एक संगीतकी ही कला ले लें, कोई संगीत जरा-सा सीख जाये, उससे गानेको कहा जाये तो वह एक-दो बारके कहनेसे नहीं गाता। उसे तो बहुत-से लोग बार-बार मनायें, जिसे कहते हैं तेल लगाना, तब वहीं वह गाता है। एक संगीतकी ही बात नहीं, सारे लौकिक कार्योंकी यही बात है। धर्मकी चर्चा वालोंकी भी यही बात है। कोई व्रत उपवास करे तो वहाँ भी वह अपनेको सबसे अधिक होशियार समझता है। तो क्या कोई रोग लगा है? अनेक रोग लगे हैं। जो अपने मनमें समझ बैठा है कि मैं पूर्ण समझदार हूँ, मेरे समान समझदार कोई नहीं, तो वे कितना अपने प्रभुपर अन्याय कर रहे हैं? उन्होंने अपनेको तो समझा विवेकी और दूसरे प्रभुवोंपर घृणा करते हैं तो यह जो दूसरे प्रभुवोंका अनादर करना है और अपने प्रभुका अनादर करना है। अरे यहाँपर जितने भी अन्य जीव हैं, जितने अन्य मनुष्य हैं उनमें ज्ञान नहीं है क्या? अरे दूसरोंका आदर करनेकी अपनी आदत बनावें, सबके ज्ञानकी आस्था बनावें। कोई-कोई बात तो जो पढ़े-लिखे नहीं हैं। वे भी इतनी ऊँची कह देते हैं कि जो हमारे लिए बड़ी शिक्षाप्रद होती है। और समझो जो जानता भी अधिक नहीं, कुछ बोल भी नहीं सकता, मगर अच्छे आचरणसे रहता है तो वह हम जानने वालोंसे भी अच्छा है। हम कैसे कहें कि ये कुछ नहीं, वे तुच्छ हैं? कहाँ आप निर्णय बनाते हो? हमेशा यह आदत बनाओ कि अपने तो दोष तको और दूसरोंके गुण तको, अगर उन्नति मार्गमें चलना है तो। यह व्यवहारकी बात कह रहे हैं। सभीकी बात यही है कि अपनेमें जो सहज ज्ञानस्वभाव है उसकी श्रद्धा बनावें और उससे अपनी सम्पन्नताका अनुभव करें। किन्तु जब कोई

प्रवृत्ति करे, व्यवहार करे तो व्यवहार प्रवृत्ति हमारी सर्वप्राणियोंमें आस्थामयी होनी चाहिए 'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसां।' यह मेरा है, यह दूसरेका है, ऐसी बुद्धि होना बहुत तुच्छ चित्त वालेकी बात है। नीति कहती है 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकं।' जो उदार चरित्र वाले पुरुष हैं उनकी सारी वसुधा कुटुम्ब होती है। मनुष्यभव पाया है तो भीतरी कषाय हटाकर सब जीवोंके स्वरूपको निरखकर, उनमें समरस बनकर सारे कष्टोंको दूर करें। दूसरा उपाय नहीं है कष्ट दूर करने का। केवल एक समता ही उपाय है। तो भैया! व्यवहार बनावें तो जरा स्पष्ट, सबके आदररूप बनावें और श्रद्धा बनावें तो अपने आपमें गुप्त हो जानेके अनुरूप बनावें। ऐसा संकुचित होकर तो काम करें। तो यहाँ आत्मस्वभावपर श्रद्धा बनाकर मग्न होनेकी बात है। वहाँ तो बनाना है यह श्रद्धा कि ये मेरे हैं, ये गैर हैं, ये विरोधी हैं। ये फलाने हैं और व्यवहार बनाना चाहिए। सबपर समान, सबको आदर देकर। व्यवहार बनाते हैं अपने एक-दो आदमियोंको अपना सर्वस्व मानकर, उनमें ही प्रीतिके वचन बोलकर व्यवहार बनाते हैं, तो यह उल्टा काम है ना? व्यवहार बनावें तो सबपर आस्था रखकर बनावें और संकुचित हों तो अपनी कषायोंसे भिन्न, विकल्पसे निराला, अपने सहज अस्तित्वके कारण जो सहज स्वरूप है उसमें यह मैं हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ, इतनी दृढ़ पकड़ बांध लें। देह मैं नहीं, कषाय मैं नहीं, विकल्प मैं नहीं, कोई तरंग मैं नहीं। मैं तो एक सहज ज्ञान स्वभावमात्र हूँ। जब इसके अनुरूप पर्याय होगी तो यह स्पष्ट सामने आयेगा। यहाँ तो हम अभी बुद्धि युक्ति अनुभूति अंतर्दृष्टिसे इस परमात्माका परिचय पा लें।

**स्वरूपसंवेदनमें ज्ञानकी प्रमाणताका उपसंहार** देखो ज्ञान मिथ्या भी है तो भी स्वरूपसंवेदनमें प्रमाण है और बाह्य पदार्थके परिचयमें वह उल्टा है, जैसा जाना उससे उल्टा है। यों समझो, जैसे एक सरस शब्द है, इसका उल्टा करो तो वह सरस ही बन गया तो संवेदनमें ज्ञान सरस है, उल्टा भी ज्ञान है, वह भी स्वरूप संवेदनमें सम्यक् है और अर्थ संवेदनमें जैसे एक शब्द है साक्षरा मायने जो अक्षर सहित है, उसका उल्टा करो तो हो गया राक्षस। यह कितनी उल्टी बात हो गई? जो साक्षरासे उल्टा चले ऐसा राक्षस। तो बाह्य ज्ञानमें अगर उल्टा है तो वह उल्टा ही है, अप्रमाण ही है। एक ज्ञानमें प्रमाणपन और अप्रमाणपन इनका विरोध नहीं। इसी तरह एक ज्ञानमें प्रत्यक्षपना और परोक्षपना इनका भी विरोध नहीं। हमारा मति श्रुतज्ञान सवरूप संवेदनमें प्रत्यक्ष है और अर्थसंवेदनमें परोक्ष है। चूँकि एक मोक्षशास्त्रका विषय है और तत्त्वका ही परिचय कराता है तो अर्थसंवेदनकी ही तो मुख्यता है, इसलिए परोक्ष, प्रत्यक्ष ये दो भेद किए गए हैं। स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षा समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रमाण है, यह बात एक विशेष कही गई है।

**एक ही ज्ञानमें प्रमाणता, अप्रमाणता, प्रत्यक्षता व परोक्षतामें अविरोधका दर्शन** प्रकरण यह चल रहा है कि हम आपके होने वाले ज्ञान किसी अंशमें प्रमाणरूप हैं, अन्य अंशमें अप्रमाण हैं, किसी अंशमें प्रत्यक्षरूप हैं और किसी अंशमें परोक्षरूप हैं, जिसका विवरण पहले बहुत हो चुका है। सम्यग्ज्ञान, मतिज्ञान अपने नियत विषयमें एक देश प्रमाण है, पर जिनको उनका विषय नहीं अथवा

नियतके अन्य अंशोंमें प्रमाण नहीं, किन्तु जिसके अभिमुख है उसके विषयमें प्रमाण है। इसी प्रकार हमारा सम्यग्ज्ञान हो चाहे मिथ्याज्ञान हो, सभी ज्ञान अपने स्वरूपके सम्वेदनमें प्रत्यक्ष हैं। ज्ञान अपने स्वरूपके सम्वेदनमें प्रत्यक्ष है, किन्तु पदार्थके सम्वेदनमें कोई ज्ञान प्रत्यक्ष है, कोई ज्ञान परोक्ष है। तो यहाँ बताया गया कि एक ही ज्ञानमें प्रत्यक्षापना और परोक्षता रहनेमें कोई विरोध नहीं, क्योंकि ज्ञान जो जानता है बाहरी पदार्थको वह ज्ञान अपने आपके स्वरूपका सम्वेदन करनेमें प्रत्यक्ष है। जिस ज्ञानके द्वारा हम चटाई, चौकी, खम्भा आदिक जान रहे हैं तो जान रहे कुछ इन्द्रियों द्वारा, अब उस ज्ञानको समझनेमें कौन-सी इन्द्रियाँ काम दे रही हैं? जिस ज्ञानके द्वारा हम बाहरी पदार्थको जान रहे हैं उस ज्ञानका ज्ञान किसी इन्द्रियसे होता है? स्वरूपतः प्रत्यक्ष होता है, प्रमाण होता है। अब बाहरी पदार्थोंका जैसे हमने ज्ञान किया वैसा मिले तो प्रमाण और वैसा न मिले बाहरमें पदार्थ तो पदार्थका ज्ञान अप्रमाण है। इस प्रकार एक ही ज्ञानमें प्रत्यक्षपना और परोक्षपना दोनों बातें घटित होती हैं। इसी प्रकार प्रमाणपना और अप्रमाणपना दोनों बातें एक साथ ग्रहण होती हैं। देखो दार्शनिक विद्वान बड़े निष्पक्ष होते हैं। उनका कोई निजी पक्ष नहीं होता। युक्तिसे विचारते-विचारते जो बात युक्ति सिद्ध हुई उसको ही वे कहते हैं। अगर पक्षपात हो तो वह दार्शनिक हो ही नहीं सकता। और हमें भी इन गुरुचरणोंके प्रसादसे संतोष है कि मेरेको भी निष्पक्षताका ही अधिक आदर है। हम किसी पक्षमें नहीं रहते, किन्तु जो स्याद्वादका पक्ष है, जैनशासनकी बात है वही हमको प्रमाण है और इसी कारण मेरेको सभी साधर्मी जन एक समान दृष्टिमें रहते हैं। सर्वत्र हमको संतोष होता है कि सभी प्रकारके विचार वाले साधर्मी बन्धु हमारे सम्पर्कमें रहते हैं। तो हमने समझा कि मुक्तिके मार्गमें चलना है और अपने आपको संसारके संकटोंसे छुटकारा पाना है तो पक्ष कषाय, यह मेरा, यह पराया, इस बातको चित्तसे बिल्कुल ही अलग कर देनी चाहिए तभी हमको वह गली मिलेगी कि जिस गलीसे हम सहज ज्ञानका अनुभव करें।

**धर्ममार्गमें कषायोंकी अनन्तसे अनुबन्धिता** ज्ञानानुभवमें बाधक होती हैं कषायें। और देखो अन्य कामोंमें कषायें बड़ी नहीं कहलातीं, किन्तु धर्मके सम्बंधमें होने वाली कषायको अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं। कषाय कौन नहीं करता? घरमें रहते हैं तो स्त्री, पुत्रादिकसे कषाय, भाई-भाईसे कषाय, बंधुओंसे कषाय, रिश्तेदारोंसे कषाय, यों अनेक कषायें चलती रहती हैं, पर ऐसी कषायें सम्यग्दृष्टि गृहस्थके भी चलती हैं, क्योंकि वह घरमें रह रहा है। तो यहाँ अकषाय होकर तो नहीं रहता। अगर अकषाय होता तो वह १२वाँ गुणस्थान पाकर प्रभु हो जाता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी विषय कषायोंमें रहता है, पर उसके अनन्तानुबंधी कषायें नहीं हैं, लेकिन धर्मके प्रसंगमें कषाय जगे तो वह अनन्तानुबंधी होती हैं। अनंत मायने मिथ्यात्व उसका जो सम्बंध बना दे सो अनन्तानुबंधी है। उस शल्यके रहते हुए हम आप स्वानुभव पा नहीं सकते। इसीलिए हम बार-बार यह स्मरण कराते हैं कि भाई अपनी भलाईका ध्यान रखो, आत्महितका ध्यान रखो। बाहरमें क्या हो रहा, क्या करना है? किसे करना है? इस बातको बिल्कुल गौण कर दो। बड़ी मुश्किलसे यह मनुष्यभव मिला

है, इसको अगर हमने धार्मिक प्रसंगकी कषायमें खो दिया तो पता नहीं फिर हमारा क्या हाल होगा? न जाने कहाँ जन्म होगा, कहाँ भटकेंगे? तो इस १०-५ वर्षके टिपटाप (चमक-दमक)को सर्वस्व न समझो। यह सब धोखा है। इस राग लगावको श्रद्धासे त्यागकर अपने आपका ऐसा दर्शन करो कि मैं आत्मा विकाररहित स्वरूपतः अविकार एक ज्ञानस्वभावमात्र हूँ। और मुझको इस ही ज्ञानस्वभावकी अधिकाधिक दृष्टि बनाकर इस ज्ञानस्वभावमें मग्न होना है। मेरा तो बस एक ही प्रोग्राम है। अन्य प्रोग्रामकी मेरे दिलमें जगह नहीं, ऐसा अन्तः दृढ़ निर्णय हो और देखो थोड़ा पार कर लो। समय एक अपूर्व मिला। ऐसा अवसर, ऐसा मनुष्य पर्याय, ऐसा सत्कुल, ऐसा पवित्र जैनशासन बार-बार नहीं मिलता।

**स्वसंवेदन और वेद्याकारका जैनसिद्धान्तके शब्दोंमें स्पष्टीकरण** यहाँ एक अपने आपके ज्ञानस्वभावकी बातकी जा रही है कि मेरे ज्ञान स्वभावको उपादान करके जो मेरी ज्ञानपरिणतियाँ बनती हैं, जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान स्वांशमें प्रत्यक्ष है और अर्थसम्वेदनमें परोक्ष है। देखो फिर प्रकरणका स्मरण करो। बात यह कही जा रही है कि जो भी ज्ञान जगता है वह ज्ञान स्वसम्वेदन भी करता है और अर्थसम्वेदन भी करता है याने ज्ञान अपने आपके स्वरूपका भी भान करता है और बाह्य पदार्थका भी ज्ञान करता है। जैनसिद्धान्तके शब्दोंमें ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार, इन दो शब्दोंमें रख लीजिए। ज्ञानाकार मायने शुद्ध ज्ञानका स्वरूप और ज्ञेयाकार मायने उस ज्ञानमें जो कुछ जानकारियाँ चल रही हैं वह है ज्ञेयाकार स्वरूप। एक दृष्टिमें समझ लो जैसे दर्पण है तो दर्पणका निजी आकार भी है और जो पदार्थ सामने आते उनके प्रतिबिम्बरूप आकार भी हैं। यदि दर्पणका निजी स्वच्छताका आकार न हो तो प्रतिबिम्ब आकार कभी उसमें आ ही नहीं सकता। और जिसमेंपर पदार्थोंका प्रतिबिम्ब आ ही नहीं सकता उसमें निजी स्वच्छता भी नहीं होती। जैसे भीतमें प्रतिबिम्बाकार नहीं आत तो वहाँ निजी स्वच्छता भी नहीं है। दोनों कैसे अनिवार्य हैं? आप दर्पणको कहाँ छिपाकर रखेंगे कि वहाँ प्रतिबिम्ब न पड़े? कपड़ेमें बांधकर छिपाकर रखोगे तो वहाँ कपड़ेका प्रतिबिम्ब पड़ेगा। सन्दूकमें छिपाकर रखोगे तो वहाँ सन्दूकके पलड़ेका प्रतिबिम्ब पड़ेगा। उसे बड़े गहन अन्धकारमें छिपाकर रखेंगे तो अंधकारका प्रतिबिम्ब पड़ेगा। प्रतिबिम्ब पड़े बिना दर्पण रह नहीं सकता। और दर्पणकी स्वच्छता हुए बिना प्रतिबिम्ब आ नहीं सकता। ऐसे ही इस जगमग ज्ञानका स्वरूप ज्ञानके स्वयं अपने ज्ञानाकार रूपमें है, इसका जो निज चकचकायमान स्वरूप है, वही निजी स्वच्छता है। जिस स्वच्छतासे वह अपने ज्ञानाकारको अनुभव तो करता है, मगर बता नहीं सकता, क्योंकि बतानेमें ज्ञेयाकार ही आयेगा, ज्ञानाकार बतानेमें न आयेगा, और साथ ही इस ज्ञानमें ज्ञेयाकार सबके रहता है। प्रभु हुए हैं, सिद्ध भगवान हैं, अरहंत भगवान हैं, संसारी जीव हैं, जो भी चेतन हैं, जो भी ज्ञायक हैं उनमें ज्ञेयाकार निरन्तर रहता है। बात दोनों हैं ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार।

**शंकाकार द्वारा सुगम शब्दोंमें शंका रखनेका विफल प्रयास** अब जैनसिद्धान्तके शब्दोंमें शंकाकारकी शंका दुहराओ एक दार्शनिक यह कहता है कि ज्ञानाकार तो परोक्ष रहता है, उसका ज्ञान नहीं।

उसका भान न होगा और ज्ञेयाकार प्रत्यक्ष रहता है, और ये दार्शनिक इतना अधिक बढ़ गए कि इस ज्ञानमें उठने वाले ज्ञेयाकारकी ही बात नहीं कह रहे, किन्तु बाहरमें रखे हुए पदार्थ बात कह रहे हैं कि ये पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो जाते हैं, किन्तु यह ज्ञानाकार परोक्ष ही रहता है। तो एक दार्शनिक कह रहा था कि ज्ञेयाकार तो परोक्ष ही रहता है, किन्तु ज्ञानाकार प्रत्यक्ष रहता है, ऐसे दो दार्शनिकोंकी यहाँ समस्या है। अब यह शंका है क्षणिकवादीके सिद्धान्त की। अब इसपर विचार करो। उनका सिद्धान्त है कि केवल ज्ञानमात्र सम्वेदनमात्रसे तो बुद्धि प्रत्यक्ष होती है और ज्ञेयाकारसे रहितपना यह परोक्ष रहता है। वे सम्वेदनाद्वैतवादी कह रहे हैं कि ज्ञेयाकारको मानते ही नहीं, केवल एक ज्ञान ही ज्ञान तत्त्व है, अन्य कुछ तत्त्व नहीं। जैसे कि स्वभाव एकान्तवादी कहता है कि केवल स्वभाव ही स्वभाव तत्त्व है, पर्याय झूठ है। ऐसे ही बढ़ करके बौद्ध दार्शनिक कह रहे हैं कि ज्ञान ही मात्र ज्ञान ही वस्तु है, और ज्ञेयाकार याने जो जानना हो रहा है यह तत्त्व नहीं है। ज्ञान तो है, पर जानना नहीं होता। थोड़े शब्दोंमें यह इसका संक्षेप है। आप किसीके आगे यह बात रखें कि ज्ञानको तो हम सदा मानते, मगर वह जानता कुछ नहीं याने जो जानना है वह असत् है। तो इसे कौन मानेगा? अच्छा तो अब विचार करो। बौद्धसिद्धान्तकी दृष्टिसे तो बुद्धि अपने सम्वेदन मात्रके लिए प्रत्यक्ष है और वह वेद्याकारसे रहितपना मात्र वह ज्ञान जिसमें ज्ञेयाकार नहीं, ऐसी ज्ञेयाकार रहितता भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि ज्ञानका तो स्वरूप बनाया ना यह तो ज्ञेयाकारसे रहित होता है। मात्र ज्ञान ही प्रतिभासमात्र तत्त्व है। तो यह बतलावो कि जैसे ज्ञानका सम्वेदन प्रत्यक्ष हो गया, इसी प्रकार ज्ञेयाकार नहीं है, ऐसा अभाव भी प्रत्यक्ष हो गया ना? अगर प्रत्यक्ष हो गया तो सभी बुद्ध बन जायेंगे। सब सर्वज्ञ हो जायेंगे, क्योंकि ज्ञानका स्वरूप है मात्र सम्वेदन और वह है ज्ञेयाकारसे रहित। और दोनोंका हो गया प्रत्यक्ष, तो अब बुद्धकी अपेक्षा और जीवोंमें कौन-सी कमी रह गई? सभी सर्वज्ञ हो गए। और यदि कहो कि नहीं, वेद्याकाररहितपना तो परोक्ष ही है तो जैसे वेद्याकारता न होना परोक्ष है इसी प्रकार सम्वेदन भी परोक्ष हो गया। यों फिर तो बुद्ध भी जड़ बन जायेगा। जैसे संसारको जड़ बताया, ऐसे ही यह बुद्ध भी जड़ हो जायेगा। तो हम चाहते कि प्रत्येक ज्ञान स्वरूपसम्वेदनमें प्रत्यक्ष है और पराधीन ज्ञान अर्थसम्वेदनमें परोक्ष है।

**ज्ञानसंवेदन और वेद्याकाररहितता दोनोंको एक माननेपर दोनोंके प्रत्यक्षत्वकी भाँति दोनोंके परोक्षत्वका प्रसंग** ध्यानसे सुनो बात यह कही जा रही है कि ज्ञानका स्वरूप शंकाकारका कैसा है कि मात्र ज्ञान ही ज्ञान है। उसमें ज्ञेयाकार नहीं होते। जैसे कि कोई कहे कि हम तो दर्पणका ऐसा स्वरूप मानते हैं कि उसमें केवल दर्पण दर्पणमात्रकी झिलमिलाहट है, प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, इसी तरह यह शंका है। तो इसमें आपत्ति दी ना? तो इस आपत्तिको दूर करनेके लिए फिर यह दार्शनिक कहता है कि भाई ये दो चीजें अलग-अलग नहीं हैं ज्ञान होना और ज्ञेयाकारका रहितपना होना, ये दोनों एक ही बात है। तब जैसे ज्ञानसम्वेदन प्रत्यक्ष है ऐसे ही ज्ञेयाकाररहितपना भी प्रत्यक्ष हो जायेगा तो यह निर्णय बन जायेगा कि ज्ञान ज्ञान ही मात्र है, अन्य जाननवानन कुछ नहीं है। तो देखो क्या

कह दिया कि ज्ञानस्वरूप और ज्ञेयाकाररहितपना ये दानों एक ही बात हैं। तो जब दोनों एक ही बात हैं तो वहाँ यह पक्ष क्यों डाला जा रहा कि ज्ञानसम्बेदन प्रत्यक्ष है, सो ज्ञेयाकाररहितपना भी प्रत्यक्ष हो गया। बजाये इसके कोई यदि यह कह बैठे कि ज्ञेयाकार रहितपना जैसे परोक्ष है वैसे ही ज्ञान भी परोक्ष हो जायेगा। जब दो मित्र होते हैं एकसमानके तो उनमें आधीनता तो नहीं कही जा सकती कि इस मित्रके आधीन यह मित्र है, नहीं तो समान मित्र न कहलाते। असमान मित्र हों तो वहाँ ही यह आधीनता चलती है। ऐसे ही जब ये दोनों एक हो गए, तादात्म्य हो गया ज्ञानका स्वरूप और ज्ञेयाकाररहितपना इनमें। तो ये दोनों जब एक स्वरूप हैं तो उनमें यह भेद क्यों पड़ा कि सम्बेदन तो प्रत्यक्ष है और ज्ञेयाकाररहितपना परोक्ष है। दोनों एक हो गए तो ज्ञानको ही परोक्ष कह दो।

**ज्ञानसंबेदन और वेद्याकाररहितताका तादात्म्य होनेपर भी व्याप्यव्यापक होनेसे प्रसज्य एकत्वकी असिद्धिका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन** देखो कुछ नई-सी बात और पुरानीसे जोड़ी बात, अब ध्यानसे सुनो तो आगे अच्छी समझ चलेगी। शंकाकार यह कहता है कि जमीनपर घड़ेका न होना, जैसे इस जमीनपर घड़ा नहीं रखा है, जैसे कमरेमें घड़ा नहीं है वहाँ दो व्यवहार होते ना। पहिला व्यवहार किया केवल जमीन ही जमीन है और दूसरा व्यवहार किया वहाँ घड़ेका अभाव। दानों ही तो मुखसे बोल सकते। तो घड़ेका अभाव कोई अलग चीज नहीं, किन्तु खाली जमीनमें रहनेका ही नाम घड़ेका अभाव है। इसमें शंकाकार कह रहा कि बात यद्यपि ऐसी है कि खाली जमीनके होनेका नाम ही घड़ेका अभाव है। और इस प्रकार केवल जमीनकी उपलब्धि और घड़ेकी अनुलब्धि इन दोनोंका तादात्म्य है। ऐसा तादात्म्य होनेपर भी ये दोनों बातें एक नहीं हैं। जमीनकी उपलब्धि होना यह अनुपलब्धिका स्वरूप नहीं है। अनुपलब्धि बात और है, उपलब्धि बात और है। इसी प्रकार ज्ञेयाकाररहितपना याने अनुपलब्धि बात और है और ज्ञानका सम्बेदन होना अर्थात् उपलब्धि यह बात और है। याने ज्ञानसम्बेदन तो व्याप्त है और ज्ञेयाकार न होना व्यापक है। अब व्याप्य क्या और व्यापक क्या? जैसे नीम और पेड़ ये दो बातें सामने रखो। नीम तो व्याप्य है और पेड़ व्यापक है। जो थोड़ी चीज हो सो व्याप्य और जो बहुत चीज हो सो व्यापक। जितने वृक्ष हैं वे सब नीम तो नहीं हैं, नीम व्याप्य है और जितने पेड़ हैं, वे और भी हैं। तो जैसे व्याप्यव्यापकमें यह बात नहीं लायी जा सकती कि जो व्याप्यकी चीज हो सो व्यापककी भी है, ऐसे ही ज्ञानका सम्बेदन तो व्याप्य है और ज्ञेयाकार न होना व्यापक है। सो यद्यपि नीमका और पेड़का तादात्म्य सम्बंध है, फिर भी यह नियम नहीं बनाया जायेगा कि जो जो पेड़ हो सो सो नीम हो, और है तादात्म्य। फिर भी ज्ञानसम्बेदन व्याप्य है और ज्ञेयाकार रहितपना व्यापक है। अतः वहाँ यह बात न लगावें कि वेद्याकाररहितपना परोक्ष है तो ज्ञान भी परोक्ष हो जाय। शंकाकारकी एक शंका है।

**शंकाकारके सिद्धान्तसे ज्ञानसम्बेदन व वेद्याकाररहिततामें विषम व्याप्ति न होनेसे शंकाकारकी ओक्षा** अब शंकाकारकी शंकाका समाधान सुनिये जो सरल स्पष्ट होगा। शंकाकारका ज्ञानसम्बेदन

व वेद्याकाररहिततामें विषम व्याप्ति बताना ठीक नहीं। विषम व्याप्ति नीम और पेड़ेमें तो ऐसी ही है जैसी शंकाकार कह रहा, लेकिन ज्ञान और ज्ञेयाकार रहिता इसमें समव्याप्ति है। शंकाकारके सिद्धान्तमें जो ज्ञेयाकारसे रहित न हो। अतः वहाँ जो एकमें लगेगा सो ही दूसरेमें लगेगा। ज्ञेयाकाररहितपना परोक्ष है तो ज्ञानसम्बेदन भी परोक्ष बन जायेगा। इससे सीधी-सादी बात मान लो कि हम आप जो ज्ञान करते हैं वह ज्ञान अपने आपके ज्ञानके सम्बेदनमें प्रत्यक्ष है और बाह्य पदार्थोंकी जानकारीमें परोक्ष है। इस तरह “तत्प्रमाणे” इस सूत्रकी व्याख्यामें प्रमाण शब्दपर संघर्ष चल रहा कि कौन प्रमाण है, कितना प्रमाण है, कैसे प्रमाण है? इस बात कोई अलग बात नहीं है। आप मोक्षशास्त्रका पाठ पूरा कर डालते हैं, पर आपको यह पता नहीं पड़ता कि इसमें क्या-क्या विषय पड़ा है? उसकी गहराईका कुछ अंदाज तो होगा, कुछ समझ में भी आता है, कुछ नहीं भी आता है, पर एक श्रद्धा तो बनती है कि जैनशासनके तत्त्व कितने गम्भीर होते हैं और कितना सूक्ष्म निर्णय है?

**ज्ञानके स्वरूपका निर्देश** मोक्षशास्त्रके “तत्प्रमाणे” इस सूत्रपर तत्की व्याख्या चल रही है। वह दो प्रमाणरूप है। वह कौन? ज्ञान। ज्ञानका स्वरूप कैसा है? देखो हम आप सब जीव ज्ञायकस्वरूपमय हैं, ज्ञानसे अतिरिक्त याने ज्ञानको छोड़कर हम अपनेमें कुछ समझ न पायेंगे। अब जब स्वानुभव करना चाहें तो यह अनुभवनेका पौरुष बनायें अपने आपको कि मैं ज्ञानमात्र हूँ ज्ञान ज्ञान हूँ, ज्ञान सिवाय मैं कुछ नहीं हूँ। ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञानको ही भोगता हूँ, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञान ही इहलोक है, ज्ञान ही परलोक है, ऐसा एक ज्ञान ज्ञान ही ज्ञानमें रहे तो बाह्य पदार्थोंके विकल्प टूटकर इसे ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगेगा। उस ज्ञानका ज्ञान करना कितना आवश्यक है? तो ज्ञान क्या है? एक प्रतिभास स्वरूप। कहते हैं ना ज्योतिरूप, प्रकाशरूप, ऐसे ही ज्ञान क्या चीज है? एक प्रतिभास। वह एक स्वरूप है। भला जैसे हम बाहरमें पुद्गलको देखते हैं तो पुद्गलका कोई अस्तित्व है और उसका कोई स्वरूप है। इस प्रकार हम अपने आपमें निरखते हैं। तो हमारा स्वरूप आकाशकी तरह अमूर्त है। और मैं प्रतिभास्वरूप हूँ, वास्तविक पदार्थ हूँ। केवल सोचने भरका ही नहीं, कल्पना किया हुआ नहीं या अन्य चीजके मेलसे बनता हो ऐसा नहीं, किन्तु यह मैं आत्मा स्वयं सद्भूत वस्तु हूँ। जैसे कहा ज्ञानमय। ज्ञानमें क्या-क्या स्वरूप पाये जाते हैं, उस हीका यह वर्णन है।

**ज्ञानमें वेदकता व अवेदकता** ज्ञान जानने वाला होता, वह सर्वथा जानने वाला होता इतना भी एकान्त नहीं कर सकते। देखो स्याद्वादकी कला, ज्ञान जानने वाला है, मगर सर्वको जानने वाला है। सो नहीं। जो विषय है, ज्ञान उसको जानता है। जैसे मतिज्ञानका विषय है अपने अभिमुख नियत पदार्थको जानना तो जो विषयसे परे है उन पदार्थोंका अवेदक है ज्ञान। इस प्रकरणमें यह बतला रहे हैं कि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूपमें नियत विषयमें तो वेदक है और अन्य विषयमें अवेदक है। अच्छा श्रुतज्ञान भी देख लो, श्रुतज्ञानका जो विषय है अपने विषयमें वेदक है, अन्य ज्ञानके विषयमें वेदन नहीं, यही बात अवधिज्ञानकी है। यह ही बात मनःपर्ययज्ञानकी और केवलज्ञानमें भी यही बात



है। केवलज्ञान सर्व सत्को जानता है। जो भी सत् है, जो भी था, जो भी होगा, सब सत्को ही जानता है, असत्को नहीं जानता। और इसी कारण असत् ज्ञेय नहीं कहा गया। और इसी प्रकार जिस तरह हम आप धर्मकी कल्पना करते हैं। काल्पनिक धर्म, वह काल्पनिक धर्म भी केवलज्ञानका विषय नहीं। वह जो सत् है वह विषय है। एक उदाहरण लो, जैसे आपने कल्पनाकी कि यह मेरा मकान है तो क्या केवलज्ञानी भी यों जानेगा कि यह इसका मकान है? अगर केवलज्ञानी इस तरहसे जान जाये कि यह इसका मकान है तो समझो कि उसकी पक्की रजिस्ट्री हो गई। वह घर फिर उससे कभी छूट नहीं सकता। तो केवलज्ञान सत्को जानता है। आपका विपरीत अभिप्राय बना रहता है उस रूप जो आप परिणम रहे हैं यह आपका परिणमन है, यह ज्ञानमें आ गया। मकानका जो परिणमन है, जो पुद्गल स्कंध है वह ज्ञानमें आ गया। जितना जो कुछ सत् है वह ज्ञानमें आ जाता है, पर असत् और काल्पनिक धर्म ये केवलज्ञानीके विषयमें नहीं, क्योंकि ये असत् हैं और इसी कारण प्रमेयत्वगुण बताया गया है। जो प्रमेय हो सो ज्ञानका विषय है। सूत्रकार और उसके टीकाकार विद्यानन्दी स्वामी महाराज यह बात कह रहे हैं कि प्रत्येक ज्ञान अपने वेद्यस्वरूपमें वेदक है, अन्य स्वरूपमें वेदक नहीं, इसलिए ज्ञानमें वेदक और अवेदक दोनों विरोधी धर्मोंका समावेश है। देखो यह दार्शनिक विषय है। यह ध्यानमें आगे आयेगा कि आखिर आचार्य महाराजने इसको किसलिए बताया है? इसमें विसम्वाद है। कोई दार्शनिक मानते हैं कि ज्ञान वेदक ही वेदक है और कोई कहते अवेदक ही है और कोई समझते कि खुदका वेदक है और परका अवेदक। वेदक मायने जाननहार।

**एकत्र विरुद्ध धर्मद्वयके अवस्थानके उदाहरण** युक्तिशास्त्रमें प्रत्येक वस्तुको अनन्त धर्मात्मक बताया गया है। देखो अकलंक देवने जब भगवान सिद्धका स्मरण किया तो उन्होंने कहा सिद्ध भगवान मुक्त हैं व अमुक्त हैं। मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना। अरे अब भला बतलाओ जो सिद्ध प्रभु कर्मसे मुक्त हो गए, शरीरसे भी अलग हो गए, जन्म-मरण जिनके नहीं रहा उनके मुक्त आत्मा क्यों कहा? तो उसका उत्तर दिया कि ज्ञानसे अमुक्त हैं और कर्मसे मुक्त। यदि ज्ञानस्वरूपसे मुक्त हो जायें तो जड़ बन जायें। तो वे प्रभु कर्म अपेक्षासे मुक्त हैं और ज्ञानानन्दस्वरूपकी अपेक्षासे मुक्त हैं। ऐसा जो एक दिग्गज आचार्य, जिन्होंने स्याद्वादके द्वारा अनेक कला विलास रूप विषय रखा है वे यहाँ यह कह रहे हैं कि प्रत्येक ज्ञान वेदक व अवेदक रूप है। क्या कोई ज्ञान बंध्यापुत्रको जान लेगा? बंध्याका पुत्र वह भी क्या ज्ञानका विषय पड़ेगा? न पड़ेगा, क्योंकि वह असत् है। फिर आप कहेंगे कि बंध्यापुत्र यहाँ बोल तो रहे हो। बोल तो रहे हैं, मगर वहाँ दो शब्द हैं बंध्या और पुत्र। इसका विरोध नहीं है, ये तो हैं, बंध्या भी होती है और पुत्र भी होता है। मगर बंध्याका पुत्र यह असत् है। जैसे अभी बताया कि यह मकान मेरा है तो यह आप सत् हैं, मकान सत् है और मकान मेरा है, यह बात असत् है। तो प्रभुके ज्ञानमें आपका परिणमन ज्ञानमें आया, मकान भी आया, तो सत् है सो आया, मगर यह हमारा है इस तरहका जो काल्पनिक

आया, मकान भी आया, जो सत् है सो आया मगर यह हमारा है इस तरहका जो काल्पनिक धर्म है वह हम आप छद्मस्थ जीवोंमें चलता है, पर प्रभुमें नहीं चलता। वह तो शुद्ध अंतस्तत्त्वका ज्ञाता होता है। तो यहाँ बतला रहे हैं कि जैनदर्शन ही क्या, सभी दर्शनोने यह माना है कि ज्ञानका जो विषय है उसे जानेगा। ज्ञानका जो विषय नहीं है उसे न जानेगा।

**दोनों नयोंके वर्णनमें स्वभावके दर्शनकी शिक्षा** अब देखिये प्रत्येक पदार्थ अपनी अर्थक्रियामें रहता है, दूसरेकी अर्थक्रियामें नहीं रहता। सत् अपनी पर्यायोंमें बदलता ही है। अगुरुलघुत्व गुण किसे कहते हैं? जिस गुणके प्रतापसे वस्तु अपनेमें परिणमे, परमें न परिणमे, यह कभी हो नहीं सकता। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप परिणम जाय, भले ही यह प्रकाश हो रहा है, पर यह सूर्य इस प्रकाशरूप नहीं परिणम रहा है, मगर यह भी स्पष्ट है कि यह भीत प्रकाशरूप सूर्यके सन्निधानमें परिणम रही है। तो सूर्य तो निमित्त हुआ और यह प्रकाशरूप परिणमन हुआ, मगर सूर्य भूमिके प्रकाशरूप परिणम गया हो ऐसी बात नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें नहीं बनता और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बिना पदार्थोंमें ये विकार भी नहीं बन सकते। दोनोंका ही सही-सही बोध रखने वाला ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव अपने मोक्षमार्गके अनुकूल स्वभावदृष्टिको पाता। कैसे? देखो वस्तुस्वातंत्र्य, मैं हूँ, स्वतंत्र हूँ, ज्ञान स्वरूप हूँ, ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञानके सिवाय मैं कुछ नहीं कर सकता, ऐसा एक ही वस्तुमें एक ज्ञानको निरखा जाये तो वह स्वभावदृष्टिमें उमंग देता है, स्वभावदृष्टिकी ओर लग जाता है। एक बात अब निमित्तनैमित्तिक योगमें क्या देखेंगे कि विकार जितने होते हैं वे परसंगका निमित्त पाकर होते हैं और वहाँ यह ज्ञानी जीव क्या देखता है कि ये विकार मैं नहीं हूँ। ये तो एक नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, परतत्त्व हैं, ये मैं नहीं। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ। जैसे जो कुशल खिलाड़ी बालक होता है वह चलते-फिरते, उठते-बैठते, टेढ़े-सीधे जैसी चाहे स्थितिमें उस खेलको कुशलतासे खेल लेता है। ऐसे ही जो कुशलज्ञानी पुरुष है वह हर प्रकरणसे स्वभावदर्शनका ही निचोड़ निकाल लेता है, क्योंकि स्वभावदर्शन बिना जीवका उद्धार नहीं हो सकता।

**ज्ञानानुभवके आनन्दका अभ्युदय होनेपर सर्वसिद्धि** इस जीवने अब तकपर पदार्थोंमें ही उपयोग लगाया और परमें ही इसकी आत्मीयता हुई। यह मैं हूँ, जहाँ गया वहाँ ही इसने माना कि यह मैं हूँ, जिस पदमें पहुँचा, जिस स्थितिमें पहुँचा उसीको माना कि यह मैं हूँ। फल इसका यह हुआ कि यह मैं आत्मा अपने सहज ज्ञानस्वरूपमें मग्न हो सका। तो कैसे मग्न होऊँ? भाई उस सहजस्वरूपके दर्शन करें, अनुभव करें, ज्ञानानुभवकी ऐसी अलौकिक स्थिति होती है कि वहाँ जैसे कोई कार्यकर्ता कहता है कि धीरे करो, संभलकर करो, शान्तिसे करो, ऐसे ही जब यह ज्ञान अपने सहज ज्ञानस्वरूपके अनुभवके लिए चलता है तो ऐसे धीमे ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप, जिसमें कोई तरंग नहीं है, कोई नटखट नहीं है, विकल्प नहीं है, कोई क्रान्ति नहीं है, किन्तु ऐसे एक सहज भावसे ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप आया वहाँ बहुत शान्ति और एक अलौकिक आनन्दमय स्थिति होती है। ऐसी स्थिति पा लेनेके बाद उसके लिए दुनिया बदल जाती है। सारी दुनिया मुझसे अत्यन्त भिन्न है। मुझे क्या

करना इस दुनिया में, मुझे यहाँ किससे क्या लेना, ये सब भिन्न हैं। तो जिसमें एक अपने आपके अलौकिक आनन्दका अनुभव जगा उस पुरुषको यह सारा जगत असार दिखता है और उसका ज्ञान वैराग्यमय होता है और उस वैराग्यके बलसे उसकी धुन होती है रागसे हटनेकी और ज्ञानस्वरूपमें समा जाने की। इस प्रयत्नके लिए जब यह ज्ञानी चलता है तो जो स्थितियाँ इसकी आती हैं वे शुपयोगकी हैं। मुनिव्रतकी ओर आगे बढ़ते हुए सारी स्थितियोंमें गुजर कर यह ज्ञानी जीव एक अलौकिक परम सुखको प्राप्त कर लेता है, उस ज्ञानकी यह चर्चा चल रही है।

**ज्ञानकी एक पर्यायमें नाना ज्ञानपरिणमन मानने वालोंकी मान्यता वाली आरेकाका विश्लेषण** दर्शनशास्त्रमें इस प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि देखो ज्ञान अनेक पदार्थोंको जानता ना। तो ज्ञानमें वे अनेक आकार होते हैं। बहुत ध्यानसे समझनेसे यह स्पष्ट होता जायेगा, मगर आँखें खोलकर कोई मनुष्य देखें तो हमारे ज्ञानमें उतने मनुष्योंका बोध हुआ, मायने इतना आकार मेरेको मिला, ज्ञानमें प्रतिबिम्बित हुआ तो ऐसा ज्ञान नाना आकारमय होता है। यह समझ लीजियेगा जैसे गेहूँका बहुत बड़ा ढेर देख लिया तो ज्ञानमें क्या कोई एक गेहूँ प्रतिबिम्बित है? अरे जितने भी गेहूँ पड़े हैं सबका बोध है तो क्या स्थिति हुई? ज्ञान तो है एक समयका एक, मगर वे हो रहे हैं ज्ञेयाकार, यह ज्ञानकी एक ऐसी स्थिति है। तो इस विषयमें एक दार्शनिक यह बात कहता है कि हमेशा ज्ञानमें एकाकार आता है, ज्ञानमें नानाकार नहीं आता, और जैनसिद्धान्त क्या कहता है कि ज्ञानमें नानाकार होते हैं, जैसे 'बहु-बहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेताराणां' इस सूत्रमें बोला ना ज्ञान बहुत जानता, बहुत प्रकारको जानता और एक समयमें जानता। तो जब एक समयमें बहुत जानेंगे तो बहुतका ही तो बोध होगा कि वह बोध एकका रहेगा। एक ज्ञान नानाकार रूप होता है, किन्तु नैयायिक सिद्धान्त वाले ऐसा कहते हैं कि एक ज्ञानमें आकार एक ही होता है और जो उदाहरण देते हो कि देखो जब चन्द्रमाको देखते हैं तो चन्द्रमाको भी जाना, एक संख्या भी जानी, एक रूप है ऐसा भी जाना, ये जो नाना आकार बताते तो शंकाकार कहता कि एक ज्ञानके नाना आकार नहीं, किन्तु नाना ज्ञान बन रहे एक ही समय में। एक दार्शनिक यह बात रखता है। देखो यह बतला रहे हैं कि एक बार जो ज्ञान होता है जीवको उस ज्ञानमें नानाकार रहता है। एक ही समयमें जितने पदार्थोंको जानेगा उतने आकारमें रहेगा और रहेगा ज्ञान वह एक ही। किन्तु एक दार्शनिक कहता है कि नहीं। वह ज्ञान ही अनेक है। जितना आकार आया। जितना बोध हुआ उतना ही पृथक्-पृथक् ज्ञान है और उन ज्ञानोंका समूह बन रहा है। जैसे चन्द्रको देखते ही कितने ज्ञान हो रहे? चन्द्र है, एक है, इतनी दूर है, साफ है। वे कहते हैं कि ये नाना ज्ञान हो रहे और सिद्धान्त क्या कहता है कि एक ज्ञानमें ही उतने बोध हो रहे। उसका समाधान सुनो। यहाँ कह रहे हैं बौद्धादिकोंसे कि देखो यदि ऐसा

मानेंगे कि एक ज्ञानमें एक ही आकार होता है तो तुम तो खुद चित्रताद्वैतमें हुए, मेचक ज्ञान मानते हो याने नाना चित्रण होते हैं, एक ज्ञानमें तब तुम्हारे ही सिद्धान्तसे इसका विरोध है। और

देखिये यदि एक ज्ञानमें नानाकार न समझा जाय तो सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जब इस बातपर अड़ेंगे कि जितने पदार्थ हैं उनका अलग-अलग ज्ञान कर-करके छोड़-छोड़कर सर्वज्ञ बने तो यह बिल्कुल असम्भव बात है कि एक-एक का ज्ञान करके और उन ज्ञानोंको जोड़-जोड़कर सर्वज्ञ कैसे होगा? हमने जाना, अब इसे जाना, वह छूट गया। अनन्त पदार्थ हैं, ऐसा एक-एकको जान-जानकर जोड़-जोड़कर कोई सर्वज्ञ सिद्ध करे तो असम्भव बात है। सर्वज्ञता तब ही सिद्ध है जब एक समयके ज्ञानमें सर्व सत् एक साथ प्रतिबिम्बित होंगे।

**प्रमाणके स्वरूपके विषयमें शंकाओंका समाधान** इस प्रकारणमें बात कही गई है ज्ञानके सम्वेदन की। अब ज्ञानको प्रमाणका लक्षण कहते हैं ना। जैसे कि उसका ज्ञान पूरा प्रमाण है। प्रमाण है इसका स्वरूप क्या? इसका स्वरूप बताया है जैनसिद्धान्तमें कि जो स्व और अर्थका वेदन करे वह प्रमाण है, पर यहाँ बौद्ध यह बात कहते हैं कि जो अविसम्व्वादी ज्ञान है सो प्रमाण है। जिस ज्ञानमें ज्ञान करते समय विवाद नहीं रहता वह ज्ञान प्रमाण है। अब आप देखना, जितना भी अन्य दर्शन वाले कहते हैं और जब वे अपनी बात कहते तब आपको ऐसा लगेगा कि बेचारे ठीक ही कह रहे, उनके पीछे क्यों पड़ा जा रहा, ऐसा सोचना चाहिए। बौद्ध कहते हैं कि जो ज्ञान विवादरहित है उसको प्रमाण कहते हैं, ठीक लग रहा ना? अरे जहाँ विवाद है वह अप्रमाण है। जहाँ विवाद नहीं वह प्रमाण है। बौद्ध ठीक ही तो कह रहे, लग रह है ना ऐसा, किन्तु देखो जिस समय कोई जीव स्वप्न देख रहा हो नदी, पर्वत, मगरमच्छ आदिक जो कुछ देख रहा हो। कहीं स्वप्नमें मंदिर दिखता, प्रतिमा दिखती, दर्शन करते, स्वप्नमें होते ना अनेक प्रकारके ज्ञान? तो स्वप्नके समयमें उस स्वप्न देखने वालेके क्या विवाद रहता है कि मैं यह झूठा जान रहा हूँ? अविसम्व्वादी ज्ञान है। देखो लक्षणका लक्षण सही तब बनता है जब अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष इन तीनों दोषोंसे रहित हो तो स्वरूप है। सुननेमें तो लग रहा कि बौद्ध बेचारे ठीक कह रहे। विवादरहित ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, पर स्वप्नमें जो दिख रहा है वहाँ क्या विवाद है स्वप्न में? हाँ स्वप्न मिट जाये, जग जाये तब सोचेंगे कि अरे मैंने जो कुछ स्वप्नमें देखा वह सब झूठा था। यह दार्शनिक शास्त्र है, युक्तिका शास्त्र है। यहाँ कोई कहे कि हमारे आगममें लिखा है तो इसको कोई प्रमाण नहीं माना जाता है? इसका समाधान तो किया जा सकता है। उन्हीं शंकाकारके दर्शनसे व युक्ति से। तुम लोग कहोगे कि हमारे शास्त्रोंमें लिखा तो वे यह कहेंगे कि जावो शास्त्र अपने आलेमें धर दो। तो उनको क्या उत्तर दोगे? वहाँ तो दार्शनिकोंको युक्तियोंके बलसे मानना पड़ेगा। अविसम्व्वादी ज्ञान प्रमाण है, ऐसा कहना क्यों अयुक्त है? यों कि स्वप्नका भी ज्ञान प्रमाण हो जावेगा। अब बौद्ध कहते हैं कि इतनी ही बात नहीं, किन्तु जिस ज्ञानके करनेसे सन्तोष हो जाय वह ज्ञान प्रमाण है। देखो कैसी अदल-बदल चल रही कि ज्ञानस्वरूपके बारेमें ज्ञानकी बात कह रहे हैं कि कौन-सा ज्ञान प्रमाण है? तो दूसरी बात रखी जा रही है जिस ज्ञानके करनेसे सन्तोष हो जाये सो प्रमाण है। इसके समाधानमें भी कह दीजिये कि यह भी बात स्वप्नमें है। स्वप्नमें यदि भोजन दिख जाये तो भोजन भी करने

लगाते विकल्प और सन्तोष भी करते। तो संतोष हो जाये जिस ज्ञानसे वह प्रमाण है, यह सब अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है। तब एक और अन्य बात रखी है बौद्धोंने कि नहीं भाई बात ऐसी मान लो कि अर्थक्रिया जिस ज्ञानमें ठहरे वह ज्ञान प्रमाण है। जैसे हम जानते हैं कि यह स्पीकर है और हम इसमें बोलते रहते हैं, अर्थक्रिया चल रही है तो ऐसी अर्थक्रिया जहाँ ठहरे वह ज्ञान प्रमाण है। तो इसका समाधान देखो शब्द सुनो, उसमें अर्थक्रिया ठहरती है क्या? बिजली चमकती, दिख गई तो अर्थक्रिया ठहरती है क्या? तो अर्थक्रियाका ठहरना प्रमाण है, यह बात भी न बनी तो बौद्ध कहते हैं कि लो हमारी एक और अन्य बात सुनो इच्छा न रहे सो प्रमाण है। जिस ज्ञानके होनेपर इच्छा दूर हो जाये, जैसे कि प्यास लगी थी, पानी चाहिए था, पानी दिख गया, अब इच्छानिवृत्ति हो गई। स्वप्नमें पानी कहाँ है, सो इच्छानिवृत्ति भी जहाँ हो सो प्रमाण है। कहते हैं कि ऐसी आकांक्षाकी विकृति तो स्वप्नमें भी हुई। प्यास लगी, पानी दिख गया संतोष मान रहे। इस विषयमें बहुत शंका समाधान है, इस विषयको छोड़ें, आखिर बात यह आती है कि जो ज्ञान स्व और पदार्थको जानता है और जिस-जिस विषयमें विसम्वाद नहीं रहता है वह ज्ञान उस-उस विषयमें प्रमाण होता है।

**स्वयंकी चर्चामें स्वयंके प्रकाशके उपायका कथन** किसकी बातकी जा रही है? अपने आत्माके स्वरूपकी बात किसके कठिन लगती है कि जिन्होंने अपने स्वरूपके बारेमें कुछ भान करनेका प्रोग्राम ही नहीं बनाया। देखो जितनी बात कही जा रही है वह सब बात एक ज्ञानी पुरुष अपने अनुभवमें लेता है। सबको सब वर्णन करनेमें देर लगेगी, पर समझनेमें देर नहीं लगती और उसकी अपेक्षा अनुभव करनेमें तो बिल्कुल ही देर नहीं लगती। अनुभवसे अधिक समय लगता है समझने में। समझनेसे ज्यादा समय लगता है बताने में, पर एक अनुभव जिस समय इस ज्ञानस्वरूपका दर्शन हुआ, सबका सब इसके अनुभवमें आ जाता है। ऐसा यह ज्ञान प्रमाणरूप है। मोक्षशास्त्र उमास्वामीका बनाया है, और किन्हीं-किन्हीं दार्शनिकोंने तो यह कहा है कि उमास्वामी और कुन्दकुन्दाचार्य एक थे और इसके प्रमाणमें बतलाते हैं कि उमास्वामीको गृद्धपिच्छ आचार्य कहा और कुन्दकुन्दाचार्यको भी गृद्धपिच्छ कहा। जब ये विहार कर रहे थे और पिछी गिर गई तो आकाशमें गृद्धोंके पंख मिले, वही उनकी पिछी हो गई। तो ये आचार्य महाराज एक संक्षेपमें बताते देते हैं। तत्प्रमाणे इसमें कितना मर्म, कितना रहस्य और कितना तथ्य भरा है? यह बहुत विस्तारकी बात है। देखो अष्टमी, चतुर्दशीको तथा अष्टान्हिका आदिक पर्वोंमें सूत्रजीका पाठ सभी लोग करते हैं और बड़े विनयपूर्वक करते हैं, मगर उसमें क्या रत्न पड़े हैं? यह तो उस शास्त्रमें अवगाहना करनेसे ही विदित होता है। पाठ तो जल्दी-जल्दी पढ़ते हैं। वस्तुके स्वरूपको समझनेका क्या उपाय है, बस यही चर्चा केवल पहले अध्यायमें है। अभी जीव तत्त्वका वर्णन नहीं आया। हाँ उसका वर्णन यों आ जाता कि तत्त्वके जाननेका जो उपाय है वह जीवकी ही स्थिति है। इस ढंगसे तो आता है, मगर जैसे आचार्य ऐसा संकल्प करके चले कि मैं ७ तत्त्वोंका वर्णन करूंगा तो इस प्रोग्रामके अनुसार जीव तत्त्वका वर्णन दूसरे अध्यायसे है और पहले अध्यायमें समस्त तत्त्वोंके जाननेका क्या उपाय है, बस

उस उपायका वर्णन है। सारांश यह जानें कि जगतमें सबसे अधिक अलौकिक विभूति है तो मेरा ज्ञान है। कभी किसी बातपर अधीर मत हों। अगर कुछ टोटा पड़ गया या कुछ नुकसान हो गया या वियोग हो गया तो कभी अधीर न हों। इनसे मेरा क्या? यह तो प्रकट भिन्न चीज हैं। मेरा ज्ञान ही मेरे लिए वैभव है। यह भगवान आत्मतत्त्व हमारा एक अलौकिक तत्त्व है, ऐसी जिसकी दृष्टि आ गई तो उसने समझो सब कुछ पा लिया। इसे कहते हैं सर्व अर्थकी सिद्धि होना। सारे अभीष्ट काम सिद्ध हो जायें ऐसी कौन-सी स्थिति है? किसी भी पदार्थकी चाह न रहे, इसीके मायने हैं कि सारे पदार्थ एक मिल गए, मगर एक-एक पदार्थ मिला-मिलाकर सारे पदार्थोंके मिलनेकी कोई बात करे तो यह असम्भव है। सारे पदार्थ कब मिल गए आपको? समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि कब हो गई आपको जब कि आप ज्ञानस्वरूपको जानकर यह निर्णय कर लें कि मुझे कुछ न चाहिए। मेरे चाहने योग्य यहाँ कुछ भी चीज नहीं है। मैं सर्वसे निराला एक अकिंचन हूँ ऐसा अनुभव कर लें।

**जीवके सर्वस्व ज्ञानभावकी प्रमाणरूपताका दिग्दर्शन** जीवका सर्वस्व वैभव ज्ञान है। ज्ञान ही इसका स्वरूप है। ज्ञान ही इसका सर्वस्व है। ज्ञान सिवाय आत्मा और क्या? यदि यह जीव अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर ले कि मैं ज्ञान ही ज्ञान हूँ, ज्ञान सिवाय अन्य कुछ नहीं हूँ, जगतमें दिखने वाले ये पदार्थ मित्रादिक कुटुम्बीजन या अन्य कुछ वैभव मेरेसे प्रकट निराले हैं, उनका मैं नहीं, मेरे वे नहीं। मैं केवल अपनेमें अपनी ही वृत्ति करता रहता हूँ, ऐसा अपनेको केवल ज्ञानस्वरूप देखें तो इस जीवपर कोई संकट नहीं, पर अपने स्वरूपकी दृष्टि तो करता नहीं और कर्मोदयका निमित्त पाकर, कषायावेशमें आकर, बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि लगाकर अपनेको क्षुब्ध करता है और ऐसा ही यह अनादि कालसे करता चला आया है और यही बात इस भवमें भी यह करता चला जायेगा तो यह भी भव व्यर्थ गया। तो संभाल करना अपने आपके स्वरूप की, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ जो बातें हैं उनसे उपेक्षा करना और जैसे इस ज्ञानतीर्थकी प्रवृत्ति चले उस प्रकार व्यवहार करना, उस ज्ञानके बारेमें यहाँ जिक्र चल रहा है। तत्प्रमाणे इस सूत्रकी व्याख्या चल रही है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि यह दो प्रमाणरूप है; अर्थात् ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारके है। देखो हम आपका स्वरूप है ज्ञान। कोई भी पदार्थ परिणमन किए बिना अस्तित्व नहीं रख सकता। जो भी है उसका प्रति समय परिणमन चलता ही रहेगा। तो मैं हूँ ज्ञानस्वरूप, मुझ ज्ञानस्वरूपका परिणमन चलता रही रहेगा। मुझ ज्ञानस्वरूपका परिणमन क्या हुआ? जानना, समझना। पदार्थके बारेमें अपनी समझ बनाना यह है ज्ञानका काम तो वह जानना, वह समझ में, वह परिचय हम लोगोंको दो ढंगोंसे होता है, एक तो होता है इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर और एक होता है इन्द्रिय और मनकी सहायता बिना केवल अपनी ज्ञानशक्ति से, ज्ञानस्वरूपसे केवल आत्मा ही आत्मा द्वारा ज्ञान होता है। ज्ञान तो सर्वत्र आत्माके ही द्वारा होता है, लेकिन कहीं इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है, कहीं इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखकर होता है। देखो होता है ना हम आप सब लोगोंके जो ज्ञान चल रहा है वह इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखकर चल रहा है ना? आँखें मींच लो तो रूप दिखेगा क्या?

कोई चीज जिह्वापर मत रखो तो स्वाद आ जायेगा क्या? सभी ज्ञान ये इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखते हैं। जैसे प्रतिष्ठा इज्जत, यश, कीर्ति आदिक सम्बन्धी जो ज्ञान होता है वह रखता है मनकी अपेक्षा। तो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखकर हमारे ज्ञान चल रहे हैं तो ये सब ज्ञान कहलाये परोक्ष और जो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान है वह आत्मशक्तिसे चढ़ता है, इन्द्रियमनकी अपेक्षा वहाँ नहीं रहती तो वह कललाया प्रत्यक्ष। यह सब वर्णन आगे किया जायेगा।

**अन्य चीजोंको प्रमाणरूप कहनेके व्यवहारमें भी ज्ञान प्रमाणरूपताका लक्ष्य** प्रकरणमें यह समझें कि यह कहा जा रहा है कि ज्ञान प्रमाणरूप है, प्रमाण है। जैसे लोग कहते हैं कि अच्छा बतलावो इस बातका प्रमाण क्या? तो झट दस्तावेज सामने रख देते हैं कि यह है प्रमाण। तो क्या वह कागज स्याही वह प्रमाण है? नहीं। उसको पढ़कर जो भाव समझा, जो ज्ञान आया वह ज्ञान प्रमाण है। हर जगह ज्ञान ही प्रमाण होता है, चीज प्रमाण नहीं होती। कोई गवाह पेश कर दे साहब यह है प्रमाण तो क्या वह गवाहकी शक्ल-सूरत प्रमाण है? क्या गवाहके वचन प्रमाण हैं? अरे गवाहकी बात सुनकर सुनने वालेके जो ज्ञान बना कि बात ऐसी ही है वह ज्ञान प्रमाण है। ज्ञानको छोड़कर अन्य कुछ प्रमाण नहीं होता। तो मन प्रमाणके बारेमें यह चर्चा चल रही है।

**क्षणिकवादसम्मत चार प्रमाण लक्षणोंका संक्षिप्त समीक्षण** प्रमाण किसे कहते हैं? जैन सिद्धान्त तो कहता है कि ज्ञान प्रमाण है और वह ज्ञान कैसे हुआ? जो स्व और पदार्थको जानता हो, पर इसके विपरीत बौद्ध यह बात रख रहे हैं कि जो ज्ञान अविस्मवादी हो वह प्रमाण है, ज्ञानमात्र नहीं, किन्तु जो विस्मवाद रहित हो सो प्रमाण। आया ज्ञान ही, पर उसका विवादरहित व्यवहारसे मतलब है। हाँ तो पूछा गया कि विस्मवाद न होना, इसका क्या अर्थ है? तो पहले तो यह बतलाया कि जहाँ विवाद न उठे सो प्रमाण। विवाद मायने विरोध। तो कहते हैं कि ऐसे तो जब स्वप्नमें कोई चीज दिखती है कि हम यात्राको जा रहे हैं, हम पानीसे नहा रहे हैं, हम जंगलमें जा रहे हैं या धन मिल गया है या राजपाट मिल गया है तो ऐसा स्वप्न देखने वालेको क्या उसमें कुछ विवाद रहता है? बिल्कुल विवाद नहीं रहता, बिल्कुल सच समझता, रंच भी शंका नहीं रहती। तो फिर वह भी प्रमाण बन जायेगा। जब बौद्धजनोंने दूसरी बात रखी कि इतना ही नहीं किन्तु जहाँ आकांक्षा निवृत्त हो जाये सो प्रमाण है तो उसमें भी यही उत्तर है कि स्वप्नमें भी इच्छानिवृत्ति हो जाती है। जैसे मान लो स्वप्न आया कि हम किसी पंगतमें जा रहे हैं, स्वप्नमें खूब अच्छा दिखता है, लड्डू भी परोसा, खाना भी परोसा और खाते भी हैं, इच्छा भी दूर होती, जैसे जगते समय भोजन करनेसे इच्छा दूर होती पेट सा भर जाता, ऐसे ही स्वप्नमें भी लगता तो वह भी प्रमाण हो जायेगा। तब तीसरी बात रखी कि संतोष हो सो प्रमाण तो इसका भी वही उत्तर स्वप्नमें भी संतोष हो जाता, स्वप्नमें भी स्वाद लेते हैं, मिलता कुछ नहीं, मगर देखो बात सब झलकती है ना। सन्तोष होता है ना, तो वह प्रमाण हो जायगा। तब फिर वे कहते कि जिसमें अर्थक्रिया ठहरे सो प्रमाण है। काम ठहरे। स्वप्नमें देखी हुई बातमें कौन काम कहाँ ठहरता? मिट जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि जैसे किसीने कोई

शब्द सुना और सुननेमें आ गए, खत्म हो गया, अब उसकी अर्थक्रिया नहीं चलती तो वह सुनना भी अप्रमाण हो जायगा।

**क्षणिकवाद सम्मत प्रमाणके पञ्चम लक्षण अभिप्राय निवेदनमें भी लक्षणत्वकी असिद्धि** बौद्ध सम्मत प्रमाणके चार लक्षणोंकी समीक्षा बादमें वह करता है कि अब हमारी पूर्वी बात सुनो। यद्यपि शब्द सुननेके बाद शब्द न रहे, कानमें शब्द सुनना न रहा, पर उन शब्दोंको सुनकर अच्छा-बुरा लगना, विचार करना, ये जो फल देखे जा रहे हैं तो इस फलका जो अनुभव होता है इससे यह भी समझ लें कि साध्य छूटा नहीं, अर्थक्रिया छूटी नहीं। इसे कहते हैं अभिप्रेत निवेदन याने सुनकर जो अभिप्रायका निवेदन प्रमाण है। अब इसका उत्तर चलेगा। देखो फलका अनुभव, अभिप्रायका परिचय यह अगर प्रमाण हो तो इसका अर्थ है कि उससे जो इच्छा दूर हुई, संतोष हुआ। बुरा लगा या अच्छा लगा, यह ही प्रमाण कहलाया। फिर अर्थक्रिया प्रमाण नहीं कहला सकती। और फिर यह बात तो स्वप्नमें भी देखी जाती, इसलिए अभिप्राय निवेदन भी प्रमाण लक्षण न रहा। देखो कौन-सा ज्ञान प्रमाण है? इस विषयपर बड़ी समस्या चल रही है यहाँ। एक सीधी बात न माननेपर टेढ़ी बातकी हठ होनेपर अनेक टेढ़ें फंसानी पड़ती हैं और उसमें फिर इस आत्माको मिलता कुछ नहीं है। केवल एक श्रम। सीधी बात यह है कि ज्ञान खुदको जानता है, सही है और जिस पदार्थको जनता उसे भी समझना कि यह सही है। यह सब युक्तियों से, स्वानुभवसे सब प्रकारसे सिद्ध हो जाता है और देखो यह प्रमाण और अप्रमाण तो एक ज्ञानमें भी बन जाता है। बदलता नहीं, किन्तु किसी अंशमें प्रमाण है, किसी अंशमें अप्रमाण है। यहाँ फिर शंकाकार अगर कहे कि देखो स्वप्नमें देखी चीज और स्वप्नमें उसका फल भी भोगे, तिसपर भी जब जग जाता है तब फिर वह अभिप्राय तो नहीं रहता, इसलिए स्वप्नका जाना हुआ प्रमाण नहीं है। तो कहते हैं कि अभिप्राय चल-विचल हो जाता, इसका अर्थ क्या? तो कहते हैं कि अर्थ यह है कि जब यह जग जाता है तो इसे यह ही बोध होता है कि ओह! मैंने स्वप्नमें व्यर्थ ऐसी तर्कणा करी, यह झूठ है। तो देखिये उत्तर, अपना-अपना अनुभव बतायगा। स्वप्नमें भी ऐसा बोध होता है। जैसे आपका कोई इष्ट गुजर गया, ५-७ वर्ष हो गए, आपको दृढ़ निर्णय है ना कि वह तो गुजर ही गया, अब काहेको मिलता है? और किसी दिन स्वप्न आ जाये और वही आदमी दिख जाये और उससे आप बात भी कर रहे हैं तो थोड़ा आप उस स्वप्नमें भी सोचते हैं कि ओह! मैं व्यर्थ सोचता था कि गुजर गया, वह तो यह खड़ा है। बोलो अनुभवसे ऐसी बात आती कि नहीं। स्वप्नमें भी थोड़ा ख्याल तो लग रहा कि मैंने बहुत-बहुत सोचा कि अरे वह तो मर गए, मगर यह तो सामने खड़े हैं, बैठे हैं, बात कर रहे हैं, यह स्वप्नकी बात कह रहे हैं। स्वप्नमें ऐसा लगता है। तो लो स्वप्नमें भी अभिप्राय तो बराबर चल रहा है। तो यह ज्ञान भी प्रमाण बन जायेगा। देखिये क्या बात चल रही है? कठिन नहीं है, ध्यानसे सुनो बात यह चल रही है कि जिस ज्ञानके होनेपर काम किया जा रहा हो वह ज्ञान प्रमाण है तो उसीकी चर्चा चल रही है कि काम तो स्वप्नमें भी कर दिया जाता है। स्वप्नमें भी अभिप्राय रहता है। यदि यह कहो कि



स्वप्नकी बात तो बादमें बाधित हो जाती है कि वह झूठ था। तो जब बाधक ज्ञान दूसरा बने कि वह झूठ था तो सिद्ध हो गया कि स्वप्नका ज्ञान सच नहीं। तो उत्तर देते हैं कि ऐसे ही तो जगतके भी कई ज्ञान बाधित हो जाते हैं, उन्हें अप्रमाण मानते हैं। जगतके कोई ज्ञान बाधारहित देखे जाते हैं तो स्वप्नके भी कई ज्ञान बाधारहित हो जाते हैं। तो फिर स्वप्नके समयका वह ज्ञान भी प्रमाण बन जाये। इससे यह निर्णय नहीं हो सकता कि इन-इन अर्थों वाले अविस्मवादी ज्ञान प्रमाण हैं। इस प्रकार प्रमाणके बारेमें अब क्या निर्णय करना? यह निर्णय रखना कि वह ज्ञान जिसमें यह निर्णय पड़ा है कि यह ज्ञान भी सही है और यह पदार्थ भी सही है, ऐसी जहाँ चेतना जग रही हो वह ज्ञान प्रमाण है।

हमको एक बार स्वप्नमें ज्ञानानुभव हुआ। आप सुनेंगे तो कुछ अचरज-सा मानेंगे कि आत्मानुभव स्वप्नमें कैसे? करीब ८ वर्ष हो गए होंगे। हमारे सहवासी गोहदनिवासी ब्र० छोटे लाल जीके अनुरोधसे हम गोहद गये थे, वहाँसे फिर मौ जा रहे थे। गोहदसे मौ करीब १६-१७ मील पड़ता होगा। तो चलते-चलते शाम तक हम बिल्कुल थक गए, और रातको एक जगह विश्राम किया। हमारे साथमें ब्र० छोटे लाल गोहद वाले थे। उनका निवास गांव था दंदरौवा, जहाँ से मौ करीब ५ मील दूर था। तो वहाँ हम ठहर गए। अब शामका समय था, खूब थक गए। अब वह छोटेलाल जी भी वहीं बैठे और वही हम सो रहे और वहीं छोटेलाल जीकी बहुवें आयीं, नाती-पोतोंकी तरह वे भी छोटेलाल जीसे बातें कर रहीं, हम नींद ले रहे और सोते हुएमें उन लोगोंकी कुछ-कुछ अनसुनी जैसी बातें सुन रहे। फिर खूब तेज नींद आयी और सुबहके ब्रह्ममुहूर्तका समय होगा वहाँ हम एक ऐसा स्वप्न देख रहे कि हमारे सामने दो महिलायें देवियों जैसी मुद्रा शृंगारमें बैठी हैं और हम अपनी सामायिकमें बैठे हुए हैं, सामने वे दो महिलायें धर्मभावका गीत गा रही हैं, खुश हो रही हैं। उस सही बीचमें हम सब ओरका ख्याल भूलकर और एक अपनेमें ज्ञानमात्र ऐसी दृष्टि बनाये हैं, है सब स्वप्नकी बात, पर स्वप्नमें भी ज्ञान तो होता है, जानना तो चलता ही रहता है। उस समय उनके संगीतके गायनके गीत बड़े मधुर गीत, कोई साधारण गीत नहीं, एक बड़ा अलौकिक गायन था, मानो देवियोंका गायन हो। उस बीचमें उनके गायनोंका विकल्प छूटकर एक जो अपने आपके स्वरूपमें मेरे ज्ञानकी वृत्ति लगी तो मुझे आत्मानुभवका अलौकिक आनन्द मिला। है स्वप्नकी बात। उसके बाद जब नींद खुली तो ऐसा लगा कि क्यों नींद खुल गई? वही बात जरा और देर तक अनुभवमें आती। तो स्वप्नमें क्या ज्ञान नहीं चलता? पर वहाँ भी उसकी अर्थक्रिया चल सकती है। तब फिर प्रमाण क्या है, इसका निर्णय तो समस्यामें न बनेगा। प्रमाणका केवल यही लक्षण है कि हितकी प्राप्ति कराये और अहितका परिहार कराये, ऐसा जो समर्थ ज्ञान है वह प्रमाण है।

**व्यवहारसे ही प्रामाण्य तथा मोहनिवर्तनके अर्थ ही शास्त्रकी मान्यताका समाधान** अब इस प्रसंगमें पुनः क्षणिकवादी कहते हैं कि सुनो प्रमाण अप्रमाणका झगड़ा यह तो व्यवहारकी चीज है। व्यवहारसे ही प्रमाण है और व्यवहारसे ही अप्रमाण है। उसका परमार्थसे क्या मतलब? अच्छा, और

फिर शास्त्रकी बात? कहते कि शास्त्र प्रमाण नहीं होते। शास्त्रका तो इतना ही प्रयोजन है कि मोह दूर करा दे। यह बौद्ध कहते हैं और प्रमाणका मतलब इतना ही है कि कोई ज्ञान नहीं होता है और वह प्रमाण होता है। और शास्त्र भी कोई वास्तविक चीज हो, यह कुछ नहीं है, किन्तु शास्त्र तो है मोह दूर करनेके लिए और प्रमाण है व्यवहार चलानेके लिए। ऐसी शंकाकार अपनी शंका रखता है, क्योंकि उनका जानना तो इतना ही है कि निर्विकल्प दर्शन। क्षणिक है पदार्थ, क्षण-क्षणमें नये-नये पैदा होते हैं। इसीलिए उनके पदार्थ अहेतुक माने गए हैं। नया-नया पदार्थ है। एक पदार्थ का दूसरेसे क्या मतलब? तो यह प्रमाण है या अप्रमाण, यह प्रश्न न लगना चाहिए, क्यों यह तो व्यवहारकी बात है। योगियों की, संन्यासियोंकी साधनाकी बात नहीं है। तो उत्तर उसका साधारण यही है कि अगर शास्त्रमें भी प्रमाणता नहीं और अपने बोधमें भी प्रमाणता नहीं तब तो शास्त्रसे मोह कैसे दूर होगा? अब जब शास्त्रसे मोह दूर न होगा, फिर शास्त्र रचे ही क्यों गये? जो पक्का नहीं, प्रमाण नहीं वह मोहको कैसे दूर करे? और जब मोह दूर न कर सके तो शास्त्र बनाये क्यों गए? यदि शंकाकार यों कहे कि जैसे व्यवहारसे मोह हो जाता है ऐसे ही शास्त्रसे मोह हट जायेगा, सो बात नहीं। मोह जीवोंको हो रहा है। विषय वासना अनादिसे लगी है सो प्रकृति उदय में। पर मोह दूर होगा तो अटपट बातसे न होगा। प्रमाणीक युक्तिसंगत अनुभवमें उतरें, ऐसे ज्ञानके द्वारा ही मोह दूर हो सकता है। केवल बातोंसे मोह दूर नहीं हो सकता। अगर यों शास्त्रके कथन मात्रसे मोह दूर हो जाये तो जिस किसीका भी शास्त्रसे मोह दूर हो जाना चाहिए। तो शास्त्रसे मोह दूर नहीं होता किन्तु सम्यग्ज्ञानसे मोह दूर होता। शास्त्रको पढ़कर जब ज्ञान सही बनता है कि वास्तविकता तो यह है तब वहाँ मोह दूर होता है।

**निज पारमैश्वर्यकी संभालमें अपनी सच्ची संभाल** अब फिरसे अपने आपपर जरा आइये। हमारा सर्वस्व हमारा ज्ञान है, हम ज्ञानधनकी तो फिक्र नहीं करते और बाहरी ऊपरी बातोंकी इतनी चिन्ता बनाते। सो इस आग्रहमें यह दुर्लभ पाया हुआ मनुष्य जन्म व्यर्थ चला जायेगा। कषायोंके प्रति तो ऐसी बुद्धि रखें कि कषायोंकी शुरुवात मुझमें मत हो। ये कषायें अनर्थ करने वाली हैं। मैं इनसे अलग रहकर एक ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वका अनुभव करूं। ज्ञान ही मेरा धन है। देखो कितना ऐश्वर्य है कि हम आप स्वयं स्वभावसे परमेश्वर हैं। ज्ञान और आनन्द हमारा ऐश्वर्य है, और वह ज्ञान और आनन्द मेरा स्वरूप है, वह ज्ञानानन्द कहीं बाहरसे लाना नहीं है, मेरा स्वरूप है, मुझमें है, मुझमें ही प्रकट होता है। बस एक सही ज्ञान बने कि मेरा ज्ञान और आनन्द मुझमें अपने आपसे प्रकट होता है। देखो बात यहाँ दो हैं ज्ञानानन्द और दुःख आकुलता, कष्ट, क्षोभ याने सर्वविकार ये दो बातें सामने रखें। तो जैसे ज्ञानानन्दकी बात है ना कि ज्ञानानन्द निरपेक्ष होकर मेरेमें मेरेसे ही प्रकट होता है ऐसे ही यदि विकारके लिए मान ले कोई कि ये रागादिक विकार भी मेरेमें मेरेसे अपने आप निरपेक्ष प्रकट हुए, तब फिर दोनोंका यह खिचड़ी बन गया, फिर कुछ न चलेगा। आपको अकाट्य श्रद्धा रखनी होगी कि विकार मेरेमें मेरेसे निरपेक्ष नहीं बने। वे कर्मादय विपाकका निमित्त

पाकर और बाहरी उपचरित निमित्तोंका आश्रय लेकर ये विकार बने हैं जो अनुभवमें आ रहे। तब समझो इनका निषेध कैसे कर सकेंगे? यों कि विकार मेरे स्वरूप नहीं, ये नैमित्तिक हैं, परभव हैं।

**उपयोगसे विकारको दूर कर ज्ञानानन्दामृतकका पान करनेमें आत्मकल्याण** भैया! आपको ज्ञानानन्दका भोजन करना है तो उस राहसे चलें और जैसे अपना ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी दृष्टिमें आये उस प्रकार प्रकारसे अनुभव बनायें। ज्ञानानन्दके अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे मेरे स्वरूप नहीं, वे मेरेमें मेरे निमित्तसे नहीं हुए, किन्तु परसंग पाकर हुए। परसंग पाकर जो विकार हुए वे परभाव हैं, परका माया छाया हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, इसलिए सही बोध बनाकर पहले इन विकारोंको उपयोगसे बाहर निकालें तब अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूपकी दृष्टि हम कर सकते हैं। जैसे ज्ञानानन्द हमारे गाँठकी चीज है, ऐसे ही विकार भी हमारे गाँठकी चीज हैं, ऐसी श्रद्धा रहेगी तो वहाँ ज्ञानानन्दका अनुभव नहीं हो सकता। वेदान्तकी जागदीशी टीकामें एक उदाहरण आया है कि शक्करकी दूकानमें रहने वाली चींटी एक बार नमककी दूकानमें रहने वाली चींटीके पास गई और उसने कहा बहिन यहाँ तुम क्या खारा-खारा खा रही हो। मेरे साथ चलो ना, मीठा ही मीठा खावो। उसने बहुत-बहुत समझाया तब वह चली तो सही, पर यह सोचकर कि वहाँ कुछ खानेको न मिले और लंघन करना पड़े तो बुरा रहेगा सो अपने मुखमें नमककी डली लेकर चली। जब वहाँ शक्करकी दुकानमें पहुंच गई तब शक्करकी चींटीने पूछा कहो बहिन अब मीठा-मीठा लगे रहा ना? तो नमककी चींटी बोली कि हमको तो कुछ भी मीठा नहीं लग रहा। तो फिर शक्करकी चींटी बोली तुम मुखमें कुछ रखे तो नहीं हो? हां एक नमककी डली मुखमें दबाकर साथ ले आयी हूं। अरे इस नमककी डलीको तू बाहर फेंक दे तब मुझे मीठेका स्वाद आयेगा। तो ऐसे ही आई इस उपयोगको परभव जानकर, नैमित्तिक जानकर, पर प्रतिफलन जानकर इनके उपयोग द्वारा फेंक दें। ये मेरी चीज नहीं हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा उससे पहले हटाव बने और फिर अपने स्वरूपमें नित्य अन्त प्रकाशमान उस सहज ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि करें तो ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव मिलेगा। उस ही ज्ञानके बारेमें दार्शनिक विधिसे यह चर्चा चल रही है कि यह ज्ञान क्या चीज है? प्रमाण क्या वस्तु है? तो प्रमाण कोई व्यवहार मात्रकी बात नहीं है कि लोकमें व्यवहारमें जहाँ-जहाँ किसीको किसी भी बातसे प्रमाणता लगे सो बात नहीं। प्रमाण ज्ञान ही होता। अज्ञान प्रमाण नहीं होता। अज्ञानमें दोनों ही बातें आ गईं। न तो ये अजीव पदार्थ प्रमाण कहलाते और न खोटा ज्ञान प्रमाण कहलाता, किन्तु जहाँ स्व और अर्थका निश्चय पड़ा हुआ है वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

**क्षणिकवादसम्मत प्रमाण लक्षणोंकी असिद्धि** प्रमाणके वर्णनके प्रसंगमें क्षणिकवादी यह बात कह रहे हैं कि प्रमाणपना तो व्यवहारकी चीज है। वास्तवमें प्रमाणपना और अप्रमाणपनेसे क्या मतलब? एक बात। दूसरी बात यह है कि शास्त्र जो बनाये गए हैं वे कोई तत्त्वकी सिद्धिके लिए नहीं, न प्रमाण बतानेके लिए। किन्तु उन्हें पढ़े कोई और उनका मोह दूर हो जाये, इसके लिए शास्त्र बनाये गए। जैसे कि बहुत-से लोग कम पढ़े-लिखे भी हों, मन्दिर आते हैं, श्रद्धासे शास्त्र उठाते हैं,

१०-५ लाइन बांचते हैं तो उनके उपयोगमें यह रहता है कि मोहसे हटे रहना। तो शास्त्र उठाना, पढ़ना इनमें दिल लगाना, उससे मोह दूर होता है। शास्त्रका इतना ही प्रयोजन है। शास्त्रसे कोई तत्त्व या प्रमाणकी बात आती हो, सो नहीं। ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी यह भी कहते हैं कि जो युक्तिसे बात घटित नहीं होती है उस बातका देखकर भी हम तो श्रद्धा न करेंगे, ऐसा उनका संकल्प है। जैसे कि मानो एकदम हाथी दिख गया तो दिखते ही हम हाथीकी श्रद्धा न करेंगे। हाथपर सूंड देखकर फिर विचार बनायेंगे कि ऐसे अंग जिसमें होते वह हाथी है। तो जब युक्तिसे उस बातको समझ लेंगे तब हम उसकी श्रद्धा करेंगे, ऐसा कहते हैं क्षणिकवादी। तो अब बतलावो यहाँ प्रमाणपनेको भी युक्तिसे ही, श्रद्धा करने लायक बताया है, तो युक्तिकी प्रधानता हो गयी ना अब। तो कैसा यह बाधित वचन है, वचनसे कभी कुछ कह दिया, कभी कुछ। अभी तो कह रहे थे कि युक्ति कुछ चीज नहीं, प्रमाणपना व्यवहारमें है, शास्त्र मोह दूर करनेके लिए है। अब यहाँ बोल रहे हैं कि जो बात युक्तिसे घटित न हो, चीज दिख जाये तो भी मैं उसकी श्रद्धा नहीं करता। तो ये तो परस्पर बाधित वचन हुए। इस प्रकार प्रमाणके लक्षण जितने क्षणिकवादियोंने कहे अब तक उनमें दोष है, इस कारण वे सही लक्षण नहीं हैं।

**क्षणिक व विष्वग्भूत अणुओंमें अर्थक्रिया स्थितिकी असंभवता** अभी आखिरमें इसका लक्षण यह बताया है कि जहाँ अर्थक्रिया ठहरे बस वह प्रमाण है। जैसे पानी समझा तो देखो अब पानी पीने लगे, उस समय जो पानीका व्यवहार हुआ उससे समझा कि जो पानी जाना वह सच बात है। किसी भी बातको जानना सच तब है, जब कि वह काममें आये, ऐसा इसका एक अन्तिम कथन था, लेकिन कितनी अचम्भेकी बात है कि ये क्षणिकवादी बौद्धजन पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं। पदार्थ एक क्षणको रहता है, दूसरे क्षण नहीं रहता। तो जब एक क्षणमें ही पदार्थ रहता है, तब दूसरे क्षण रहता ही नहीं है तो उसका जो ज्ञान होगा एक तो निश्चय वाला नहीं हो सकता, क्योंकि जब निश्चय करेंगे तो पदार्थ मिट गया, जिसका निश्चय करना है और जिस समय पदार्थ है उस समय एक झाँकी भर हो पायेगी, निश्चय हो ही नहीं सकता। तो जहाँ कुछ निश्चय भी नहीं हो सकता वहाँ अर्थक्रिया होगी ही क्या? तब अर्थक्रिया ठहरना यह प्रमाणका लक्षण है, सो ठीक नहीं बैठता। दूसरी बात देखो ये क्षणिकवादी इन दिखने वाले पदार्थोंको झूठ कहते हैं, जो दिख रहा है वह असत्य है। सत्य तो इसमें एक-एक परमाणु है और परमाणु बिखरे ही रहते हैं, उनका मिलकर कोई पिंड नहीं बनता। तो जहाँ परमाणु मिल भी नहीं पाते, न परमाणुका मिलकर कोई पिंड बनता तो अर्थक्रिया उनमें सिद्ध ही क्या होगी? तब घड़ा ही नहीं है उनकी दृष्टि में, अलग-अलग भिन्न-भिन्न बिखरे-बिखरे परमाणु हैं, तो ऐसे बिखरे भिन्न परमाणुओंमें क्या पानी भरा जाता है तो जहाँ पिण्ड भी नहीं माना गया और सब परमाणु विभिन्न होते हैं, उनकी अर्थक्रियाका ठहरना बिल्कुल एक हँसीकी बात है। तो क्षणिकवादियोंकी अर्थक्रियाका ठहरना नहीं बनता। इस कारणसे प्रमाणका लक्षण जो बताया वह उचित नहीं है।

**क्षणिकवादसम्मत छोटे प्रमाण लक्षण अज्ञातार्थप्रकाशकी समस्या व समाधान** अब छोटी बात रख रहे हैं क्षणिकवादी कि प्रमाणका लक्षण वास्तवमें तो यह है कि अज्ञात अर्थका प्रकाश हो जाना। जो चीज जानी नहीं गई अब तक उसका परिचय होना, प्रकाश होना यह प्रमाण है, ऐसा क्षणिकवादियोंका कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ यह संकल्प बनाया कि अज्ञात पदार्थका प्रकाश होना प्रमाणका लक्षण है तो बौद्धोंने प्रमाण दो माने हैं केवल प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्षमें तो इन्द्रिय मनसे जो साक्षात् ज्ञान हुआ वह प्रत्यक्ष है, उसके बाद उसका जो विचार बना वह अनुमान है। जैसे धुएँको देखकर अग्निका अनुमान होता है कि इस जगहमें अग्नि है, क्योंकि धुवाँ उठ रहा है या अन्य-अन्य अनुमान जब मानते हैं तो अनुमान तो वहाँ ही बनता जहाँ कुछ चीज पहले जानी हो और उसे जाना जा रहा हो। धुवाँ पहले जाना, अग्नि पहले जाना, अब उस जाने हुएमें धुवाँ दिख गया तो अग्निको फिर जाना तो यह तो अज्ञात अर्थका ही जानना हुआ। किसीने किसी प्रकारसे जिसे पहले जाना हुआ है उसीका ही ज्ञान बना, और यह संकल्प कह रहे हैं शंकाकार कि जो न जाना हो कभी, जो न ग्रहण किया हो कभी, उस पदार्थका प्रकाश होना प्रमाण है, तो यह लक्षण अब तो नहीं बना। अगर ऐसा ही लक्षण बनानेकी हठ रखेंगे तो अनुमान प्रमाण नहीं रह सकता, क्योंकि अनुमान उस गृहीतको ही ग्रहण करता है। यदि शंकाकार यह कहे कि भले ही प्रत्यक्षके द्वारा ग्रहण हुआ है और फिर उसका अनुमान किया है, लेकिन प्रत्यक्षसे ग्रहण हो जानेपर भी उस क्षणिकपना आदि साध्योंमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय बीचमें आ गए थे तो उनको दूर करनेके लिए यह अनुमान प्रमाण बना, इसलिए अनुमानमें प्रमाणता आती है। जैसे क्षणिकवादियोंने किसी पदार्थको देखा और क्षणिक समझ गए, मगर वह तो क्षण भरकी झांकी है। अब उसके बाद उसमें संशय हो, विपर्यय हो, निश्चय नहीं है तो फिर उसका जो निर्णय किया गया वह अनुमानसे हुआ तो संशय आदि बीचमें आनेसे उनके दूर करनेके लिए अनुमान बना, इस कारण अनुमानमें प्रमाणता है। तो समाधान इसका स्पष्ट है कि गृहीतग्राही होनेपर जब अनुमान प्रमाण मान लेना चाहिए। क्षणिकवादी दो प्रमाण मानते हैं, तो जो बात अनुमानमें है गृहीतको ग्रहण करना, जाने हुएको जानना सो बात स्मरणमें है, प्रत्यभिज्ञानमें है, फिर इन्हें क्यों नहीं प्रमाण मानते? और प्रमाण अगर मान लिया स्मरण आदिक से, जैसे कि स्मरण हुआ वह है वहाँ तो पहले देखा तब तो स्मरण है तो गृहीतग्राही होनेका अनुमान प्रमाण है, ऐसे ही गृहीतग्राही स्मरण भी प्रमाण है। तब प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे ही दो प्रमाण हैं यह बात तो न रही। यदि शंकाकार कहे कि हम दो प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष और अनुमान, मगर प्रत्यक्षको तो मानते हैं मुख्य प्रमाण और अनुमानको मानते हैं हम व्यवहारसे प्रमाण याने गौणरूपसे प्रमाण। तो समाधान यह है कि इसी तरह तो चार्वाक माना करते हैं, फिर उनको दोष क्यों दिया? चार्वाक का, एक सिद्धान्त है कि जो दिखता है वह प्रमाण है और जो नहीं दिखता वह कुछ चीज नहीं। स्वर्ग, नरक, लोक, परमाणु आदिक जो देखते ही नहीं हैं वे कुछ नहीं हैं। तो वह लोक भी जब प्रत्यक्षको प्रमाण

सिद्ध करता है तो अनुमान लगाकर करता है, तो उनसे कहा जाये कि अनुमान तो तुम मानते ही नहीं और अनुमान गौणरूपसे प्रमाण है। यही बात क्षणिकवादी मानेंगे तो फिर अन्तर ही क्या रहा? इस तरह क्षणिकवादियों द्वारा बताये गए प्रमाणमें छहों लक्षण दूषित हैं। लक्षण केवल यह सही है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका जानना करे और ज्ञान प्रमाण है।

**मीमांसकसम्मत सर्वथा अपूर्वार्थग्राही प्रमाणकी मीमांसा** अब इस समय मीमांसक सिद्धान्त का अनुयायी एक प्रस्ताव रख रहा है कि भाई क्षणिकवादियोंका प्रमाणका लक्षण तो सही न रहा, पर हम बतलाते हैं कि यह है प्रमाण। क्या है भाई? जो अपूर्व अर्थका विज्ञान हो, निश्चित हो, बाधारहित हो और निर्दोष कारणसे बनता हुआ हो और लोकसम्मत हो, सब लोग उसको मान जायें वह प्रमाण है। कितनी बात रखीं, जो अपूर्व अर्थका विज्ञान हो और निश्चित हो, बाधारहित हो, निर्दोष कारणसे रचा हुआ हो और सब लोगोंकी सम्मति मिल जाये, ऐसी ५ बातें जहाँ हों वह प्रमाण है ऐसे मीमांसक सिद्धान्त वाले प्रमाणका लक्षण रख रहे हैं। हर एक बातपर क्रमसे अब विचार करो। पहले कहा गया कि जो अपूर्व अर्थका विज्ञान हो, सो यदि ऐसा एकान्त करने लगे कि जो सर्वथा अपूर्व अर्थका विज्ञान हो वह प्रमाण है तो इसके मायने यह हुए कि गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण नहीं होता, याने जो बात कुछ भी पहलेसे जान रखी हो उस चीजको जान जाये वह प्रमाण न होगा। तो जब गृहीतग्राही प्रमाण न रहा तो अनुमान आदिक जो प्रमाण मानते हैं मीमांसक उनका कैसे प्रमाण सिद्ध हो सकेगा? मीमांसक स्वयं ऐसा कहते हैं कि शब्द नित्य हैं क्योंकि ये प्रत्यभिज्ञानसे जाने जाते हैं। प्रत्यभिज्ञानसे जाने जाते हैं इसका भाव यह है कि शब्दके बारेमें यह ज्ञान बना रहता है कि यह शब्द वही है जो सुबह सुना था, जो कल सुना था और कह ही देते हैं लोग। जितनी गाली कोई रोज देता हो और आज दे रहा हो तो लोग कह देते कि अरे कोई नई बात नहीं है, वे शब्द तो इसके पुराने हैं। तो ऐसा प्रत्यभिज्ञान बनता है शब्द में, इस कारण शब्द नित्य कहलाते हैं। ऐसा कथन मीमांसकवादियोंका है। तो यहाँ यह ही बात तो आ गई ना कि गृहीतग्रहण बन गया। यह शब्द जो आज सुन रहे हैं वही शब्द कल सुना था। तो कलके शब्दका ज्ञान है। उसीका आज कर रहे तो जाने हुएका ही ज्ञान किया जा रहा तो अब यह प्रमाण न रहना चाहिए। उत्तरमें मीमांसक जनोंने यह संकल्प किया है कि जो अपूर्व अर्थका विज्ञान हो वह प्रमाण है। यदि ये मीमांसक जन यह कहें कि भले ही बहुत जान लिया, फिर भी उसे भूल गए थे, फिरसे ख्याल कर रहे हैं, इस कारण अपूर्व अर्थ बन जायेगा, याने चीज बन जायेगी। तो समाधान स्पष्ट है कि जब जानी हुई चीजका निश्चय है, फिर जानना इसमें विषय नया बन गया तो फिर अनुमान तर्क आदिक ये सब भी प्रमाण बन जाने चाहिएँ। इससे ऐसी हठ मत पकड़ें कि जो सर्वथा अपूर्व अर्थका ज्ञान किया जा रहा हो, वह प्रमाण है। अरे किसी अंशमें अगृहीत है वह विषय और किसीमें गृहीत रहा आवे, कथंचित् अगृहीतका ग्राही होना चाहिए, सर्वथा अगृहीतका ग्राही हो ऐसा आग्रह न करो। यदि यह कहो कि

यह प्रत्यभिज्ञान तो प्रत्यक्ष ज्ञान है तो लो अब और इसमें दोष आया। प्रत्यक्ष भी गृहीतग्राही बनने लगा तो यों प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही मानना ही होगा। और गृहीतग्राही होनेसे वह अप्रमाण नहीं, किन्तु कथंचित् गृहीतग्राही है और कथंचित् अगृहीतग्राही है। तो यह आग्रह न करो कि जो सर्वथा अपूर्व अर्थका विज्ञान है सो प्रमाण है।

**प्रमाणके लक्षणके प्रसंगमें प्रकरणका पुनः स्मरण** मोक्षशास्त्रके प्रथम अध्यायमें पदार्थोंके जाननेका उपाय बताया है। तो सर्वप्रथम कहा गया कि प्रमाण और नयोंसे वस्तुका अधिगम होता है तो प्रमाण क्या चीज है? उसका वर्णन करनेके प्रसंगमें प्रमाणके भेदोंको बताया था और अब बतला रहे हैं कि पाँच प्रकारके ज्ञान तो प्रमाणरूप हैं। यह सब समझनेसे पहले यह जानना जरूरी है कि प्रमाणका लक्षण क्या है? प्रमाण कहते किसको हैं? इस सम्बन्धमें बहुत चर्चा चली। आखिर मीमांसक यह कहने लगे कि प्रमाणका लक्षण तो यह सही है कि जो अपूर्व अर्थको जानता हो याने नये पदार्थों का, जिसका ज्ञान न किया गया हो अब तब, उसको जानता हो वह ज्ञान प्रमाण है। और जिसमें बाधा न हो वह ज्ञान प्रमाण है और जो निश्चित किया गया हो तथा जो निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न हुआ है और जो सर्वलोकों द्वारा सम्मत हो उस ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। मीमांसकोंके ये लक्षण ५ प्रकारके कहे गये हैं, वे ५ बातें व्यर्थसी हैं लक्षणके लिये। क्योंकि प्रमाणका निर्दोष लक्षण है कि जो खुदको और अपूर्व अर्थको जाने वह ज्ञान प्रमाण है। तो इन दो विशेषणों वाले प्रमाणके लक्षणोंमें पहली बात तो कही दी गई कि जो अपूर्व अर्थको जाने। जैनसिद्धान्त भी कहता है कि जो अपूर्व अर्थको जाने वह ज्ञान प्रमाण है, और मीमांसक भी कह रहे, पर फर्क एकान्तवादका है।

**प्रमाणके लक्षणमें एकान्ततः अपूर्वार्थविशेषणकी अयुक्तता** अपूर्व अर्थ ही जाना जाये, यह तो केवल प्रत्यक्ष ज्ञानमें ही संभव हो सकता है। अन्यमें तो किसी न किसी तरह पहले जान लिए गए हैं पदार्थ उसीके बारेमें जाना जाता है, जैसे स्मरणज्ञान। किसी चीजका स्मरण हुआ तो जिसको स्मरणसे जाना वह चीज पहले जान ली गई थी। प्रत्यक्षसे कभी देखा था, उसको आज ख्याल कर रहे हैं। मुम्बईका ऐसा समुद्र है, तो समुद्र पहले जान तो लिया था आँखों देखकर, आज उसका स्मरण कर रहे तो इस स्मरणने जिस समुद्रको जाना वह सर्वथा अपूर्व न रहा, और उसके पहले जान लिया था, उसीको जाना जा रहा। तो यदि यह एकान्त करते हैं कि जो अपूर्व अर्थको जाने सो ही प्रमाण है। जाने हुएको जाने, सो प्रमाण नहीं, ऐसा एकान्त करनेपर तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदिक सभी अप्रमाण हो जायेंगे। इस कारण अपूर्व अर्थको जानेसे प्रमाण है, ऐसा कथन युक्त नहीं है, किन्तु जो खुदको और अर्थको जाने वह प्रमाण है। यद्यपि अपूर्व अर्थको जानना भी बताया है प्रमाणके लक्षण में, किन्तु सर्वथा अपूर्व अर्थ नहीं। किसी अंशमें नई बात जाने सो प्रमाण है, क्योंकि जितने अंशोंमें पहले जाना उतने अंशोंमें बराबर जानते रहे, तो ऐसा कोई कहता रहे तो उसे लोग

पागल जैसी बात समझेंगे। जैसे पागल पुरुष एक ही बातको दिनभर कहता रहता है, ऐसे ही एक ही बातको उतने ही अंशोंमें बराबर जानें तो वह धारावाही ज्ञान कहलाता है। धारावाही ज्ञान प्रमाण न बन जाये, इसके लिए तो आवश्यक है कि प्रमाणके लक्षणमें अपूर्व अर्थ विशेषणमें दिया जाये, किन्तु इस विशेषणका अर्थ सर्वदेश नहीं है। किस देशमें अपूर्व अर्थ हो, उसे जाने सो प्रमाण कहलाता है। तो मीमांसकोंने जो प्रमाणके लक्षणमें पहली बात कही थी कि बिल्कुल नये पदार्थको जाने, जो कभी जाना ही नहीं गया, ऐसी बातको जाने सो ज्ञान प्रमाण है। ऐसा कहनेमें प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण बन जायेगा। प्रत्यभिज्ञानका अर्थ है कि जो बात पहले समझी गई और जो उसीके बारेमें आज समझा जा रहा तो आज ही समझका और पहलेके समझे पदार्थोंको जोड़कर वह प्रत्यभिज्ञान है। जैसे यह वही बाल है जिसको गत वर्ष देखा था अथवा यह गाय रोजकी तरह है। तो किसी तरह पूर्वके जाने गए ज्ञानमें और आजके जाने हुए ज्ञानमें जोड़ हो वह प्रत्यभिज्ञान हैं तो प्रत्यभिज्ञानने कुछ नया तो नहीं जान। जो पहले जाना था उसको ही आज समझ रहे हैं। तो ऐसा अगर कहा जाये कि अपूर्व अर्थको जाने सो प्रमाण। तो प्रत्यभिज्ञानने अपूर्व अर्थ तो नहीं जाना पहले जाने हुएको ही जाना। तो इस हठमें प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण हो जायेगा। इस प्रकार शंकाकार कहता है कि प्रत्यभिज्ञान तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। तो लो और भी आपत्ति आयी कि ऐसा प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो गया। उस प्रत्यक्षने भी पहले जाने हुएको ही जाना था। यदि यह कहो कि पहले जाने हुएको नहीं जाना, क्योंकि पहले जिस बालकको जाना था और आज जिस बातको जान रहे हैं, इन दोनोंमें जो बीचकी एकता है तबसे लेकर अब तक यह रहा आया, उस एकताको जाना तो वह एकता एक नई चीज है। तो समाधानमें सोचो कि वह एकपना क्या पहले और अबसे पदार्थोंसे न्यारी है? एक है। अगर न्यारी है तो प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता, अगर एक है तो अपूर्व अर्थ नहीं बनता। इस कारण यह मान लेना चाहिए कि किसी अंशमें पूर्वका अर्थ हो उसका ज्ञान प्रमाण है, यह तो बनता है, मगर सर्व देशमें अपूर्व हो, बिल्कुल नया हो, उसे जाने, ऐसी बात ज्ञानमें सम्भव नहीं है। तो मीमांसकोंने जो पहले विशेषण दिया वह विशेषण युक्त नहीं जंचता। तो प्रमाणका यह लक्षण कि जो स्व औरपर पदार्थको जाने सो प्रमाण है। ऐसा कहनेमें प्रमाणकी सारी बात आ जाती है। अब अपूर्व अर्थ यह एकान्तमें विशेषण दिया जा रहा है। थोड़ी उसकी विशेषता बतानेसे अपूर्व अर्थका ज्ञान प्रमाण है कैसे कहा जा सकता है? मगर उसमें यह ही बात समझनी होगी कि कुछ बात नई है, बाकी बात पुरानी हुई है, उसे भी जाने सो भी प्रमाण है।

**प्रमाणके लक्षणमें बाधवर्जित विशेषण देनेकी अयुक्तता** इसी प्रकार अब दूसरा विशेषण देखिये जिस ज्ञानपर बाधक प्रमाण न आये वह ज्ञान प्रमाण है। जैसे रस्सीको साँप जाना था, अब थोड़ी देरमें बाधक ज्ञान बन गया, यह तो रस्सी है, साँप नहीं है तो वह ज्ञान प्रमाण तो न रहा। किसी भी ज्ञानमें प्रमाणता तब आती है जबकि उसमें बाधक ज्ञान न आ सके। इस कारण को,



बाधक ज्ञानके अभावको प्रमाण कहते हैं, ऐसा मीमांसकोंका कथन है, लेकिन इसमें भी आपत्तियाँ हैं। पहली बात तो यह ही समझें कि जिस पदार्थको जाना जा रहा है उस पदार्थका भली प्रकार निश्चय बन गया। बस इसीके मायने हैं कि वहाँ बाधक ज्ञानका अभाव है। अब किसी चीजको जानकर फिर यह विकल्प करें कि इसमें बाधक ज्ञान तो नहीं है और जब यह समझमें आया कि बाधक ज्ञान नहीं है इसलिए यह प्रमाण है तो ऐसा न कोई सोचता है और न इस तरहसे प्रवृत्ति बनती है। किसी पदार्थको जाने और भली प्रकार निश्चय हो गया कि यह वही पदार्थ है तो उसीके मायने प्रमाणका लक्षण है और सिद्धान्तमें यह कहा जा रहा था कि जिस पदार्थका पूरा निश्चय हो गया कि यह यही है वह प्रमाण है। यद्यपि बातें दोनों शामिल हो जाती हैं। जिस ज्ञानमें इसका निश्चय है उसका अर्थ यह है कि इसमें बाधा डालने वाला कोई दूसरा प्रमाण नहीं आता। यह तो एक विशेषता है कि अगर ज्ञान का, प्रमाणका लक्षण बनाया जाये तो यहाँके बाधक ज्ञान न आये सो प्रमाण है। तो इसमें तो लो किसी पदार्थको जान लिया कि यह घड़ा है तो इस ज्ञानमें बाधा डालने वाला कोई दूसरा प्रमाण नहीं आता। यह तो एक विशेषता है कि अगर ज्ञान का, प्रमाणका लक्षण बनाया जाये तो यहाँके बाधक इस ज्ञानमें बाधा डालने वाला कोई दूसरा ज्ञान तो न आ पायेगा। हाँ, न आ पायेगा, ऐसा निश्चय होनेपर हम कहें कि यह हमारा सही ज्ञान है तो यह एक व्यर्थका व्यायाम है। ऐसा जो हमको बहुत बार निश्चय हुआ है इसीका अर्थ यह है कि हमारे ज्ञानमें बाधा डालने वाला कोई दूसरा ज्ञान नहीं आ सकता। तो यद्यपि यह बात सही तो है कि जो सही ज्ञान होता है उसमें बाधा डालने वाला कोई दूसरा ज्ञान नहीं आता। मगर यह तो पदार्थोंके निश्चयसे ही सिद्ध हो गया। अब भोले प्राणियोंको एक चकमा देनेके लिए ही अनेक विशेषतायें बनाना व्यर्थ है। अब यह शंकाकार कहता है कि जो बाधारहित ज्ञान है सो प्रमाण है। ऐसा कहनेकी आवश्यकता यों हुई कि प्रत्येक ज्ञान बाधक होनेसे पहले पदार्थका निश्चय किया करता है और जब उसमें बाधक ज्ञान आ जाता है तो निश्चय नियत हो जाता है। तो आखिर बाधक ज्ञान न आये इसके समझनेपर ही तो प्रमाण बना। तो समाधानमें कहते हैं कि इस तरह तो प्रमाण ज्ञानसे भी प्रवृत्ति बन जायेगी, क्योंकि बाधक ज्ञान होनेसे पहले उस ज्ञानमें भी व्यर्थ निश्चय पड़ा हुआ है। इसलिए ठीक लक्षण सीधा मानो कि जो ज्ञान खुदको जान ले और पदार्थको जान ले उस ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। खुदको जाननेका अर्थ आत्माको नहीं याने जो ज्ञान आत्माको जाने और पदार्थको जाने सो प्रमाण है, यह नहीं कह रहे, किन्तु जो ज्ञान खुदको जान ले कि हां यह ज्ञान सच्चा है और पदार्थको जान ले उस ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। यदि मीमांसक ऐसा ही आग्रह करे कि जब बाधक ज्ञानके अभावका ज्ञान हो जायेगा तब ही प्रमाणपनेका निश्चय होगा और वह प्रवृत्तिका कारण माना जायेगा। जब यहाँ दो आपत्तियाँ हैं तो फिर ज्ञानको प्रमाण मत कहो। बाधक ज्ञानके अभावको प्रमाण कहो, क्योंकि बाधक ज्ञानके अभावका ज्ञान होनेपर ही काम शुरू हो सका है। दूसरी बात यह है कि किसी एक पदार्थको

हम जान रहे हैं तो प्रमाण तो तब कहें कि जब उसमें बाधक ज्ञान न हो। तो बाधक ज्ञान नहीं है उस ज्ञानको प्रमाण कब कहेंगे? जब उसमें भी बाधक ज्ञान नहीं है यह बात बने तो उसका भी ज्ञान बने। तो यों अनवस्था दोष आयेगा। यदि कहो कि एक-दो बाधक ज्ञानोंका अभाव जानें, उसके बाद उसके ही निश्चयसे बाधक ज्ञानका अभाव निश्चित कर लिया जाये तो यह बात पहले ही पहले किसी पदार्थको जानते समय क्यों न मान लें? याने जब हमने घड़ा देखा और यह निर्णय हुआ कि यह घड़ा है बस ठीक है, योग्य प्रमाण है। अब यह ही हमारा निश्चय यह बतला रहा कि प्रकृत ज्ञानमें बाधक ज्ञानका अभाव है। तो बाधक ज्ञानका अभाव है ऐसी समझ बनानेकी बात कोई प्रमाण होती है, ऐसी परिभाषा न बनावें, किन्तु पदार्थका निश्चय हो जाये सो प्रमाण है।

**सर्वत्र सर्वदा बाधवर्जितताका निर्णय अशक्य होनेसे बाधवर्जित विशेषणकी अनुपयुक्तता**  
मीमांसकोंने प्रमाणके लक्षणमें ५ बातें कहीं अपूर्व अर्थका विज्ञान हो और निश्चित हो, बाधारहित हो, दोषरहित कारणसे उत्पन्न हुआ हो तथा सर्वलोकसे सम्मत हो, इन ५ विशेषणोंसे बाधार्जित विशेषणपर चर्चा चल रही है। मीमांसकोंका सिद्धान्त है कि कोई भी ज्ञान तब प्रमाण कहलाता है जब यह बात बन जाये, ज्ञानमें आ जाये कि इसका बाधक कोई ज्ञान नहीं है। समाधानमें यह कहा गया है कि बाधक ज्ञान है या नहीं, ऐसा विकल्प करना व्यर्थ है किन्तु जिस पदार्थको जाना जा रहा है उस पदार्थका निश्चय है या नहीं, बस इसपर ही प्रमाणपनेकी बात बनती है। यदि पदार्थका निश्चय है कि यह चौकी है तो अपने आप सिद्ध हो गया कि यह ज्ञान निर्बाध है। इसमें कोई बाधा नहीं। यदि बाधा नहीं है यह तकते फिरें तब तो प्रकृत बातको जाननेमें बहुत विलम्ब लगेगा। इससे यह ही समझना कि किसी पदार्थको जान लेना बस इसीका ही अर्थ है कि कोई बाधा नहीं है, और भी इस सम्बंधमें विचार करें। जब मीमांसक कह रहे कि किसी ज्ञानमें बाधा नहीं आती। बाधक प्रमाणका अभाव होना यह निर्णय होनेपर प्रमाणता आती है। तो बाधक ज्ञानका अभाव होना, क्या इसका यह अर्थ है कि सभी देश में, सभी समयोंमें बाधक ज्ञानका अभाव हो तब प्रमाण माना जाये? या कुछ ही देश में, कुछ ही समयको बाधक ज्ञानका अभाव होना प्रमाण माना जाये? यदि कहो कि सब दो में, सब समयोंमें बाधक ज्ञान है ही नहीं, ऐसा निर्णय होनेपर प्रमाणता होती है तो भला ऐसा निर्णय कौन कर सकता है? अगर कोई समझता है कि सब देश में, सब काल में, इस ज्ञानमें बाधा देने वाला कोई ज्ञान नहीं है तो वही सर्वज्ञ बनेगा। सर्वज्ञ तो यहाँ कोई है नहीं। तो किसीके ज्ञान प्रमाण ही न हो सकेंगे। यदि कहो कि कुछ देशमें बाधक ज्ञान नहीं है, कुछ समयको बाधक ज्ञान नहीं है, इसमें प्रमाणता मान ली जायेगी तो इसमें तो संशय हो गया। यह बाधक ज्ञान नहीं और कहीं हो तो फिर प्रमाण अप्रमाण कैसे बने? इस कारण यह विकल्प छोड़ दो कि बाधक ज्ञान है या नहीं? वह तो पदार्थके निश्चयके साथ ही समझ लिया जाता है। यही लक्षण ठीक है कि जो अपनेको और पदार्थको जाने सो प्रमाण।

**प्रमाणकी उत्पत्तिके प्रसंगमें अदुष्टकारणारब्धताके निर्णयका अनवसर** अब चौथे विशेषणकी बात सुनो मीमांसकका कहना यह है कि ज्ञान यदि दोषरहित कारणोंसे उत्पन्न है तब तो प्रमाण है और दोष देने वाले कारणोंसे उत्पन्न हो तो अप्रमाण है। सीधा तात्पर्य यह बताते हैं कि सही आँख आदिसे जाने तो प्रमाण है; अर्थात् निर्दोष आँखसे जाने तो प्रमाण है और आँखमें कोई दोष हो, अंध हो, कामला हो, उन दोष वाली आँखोंसे जाने तो अप्रमाण है, यह कहना भी व्यर्थका प्रलाप है, क्योंकि जो ज्ञान दोष वाले कारणोंसे उत्पन्न हो उस ज्ञानके द्वारा स्व और पदार्थका निर्णय ही नहीं हो सकता। निर्णय हो रहा है तो बस वही प्रमाण है। प्रमाणका लक्षण स्वयंके और पदार्थके निर्णय करनेको ही कहते हैं। इससे अधिक विशेषण न देना चाहिए और फिर दूसरी बात यह है कि अनेक लोग वितरीत ज्ञानको भी प्रमाण मान बैठते हैं, तो वहां यह कैसे समझा जाये कि यह सदोष कारणसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण प्रमाण नहीं है। सामने पड़ी है सीप और जान गए चाँदी। जब यह कैसे निर्णय हो कि दोष वाली आँख है? जिसकी निर्दोष भी आँख है वह भी सीपको कभी चाँदी समझ लेता है। तो इस तरह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न हुआ, इसके निर्णयमें मत जावे। वस्तुको जाना जा रहा है तो उसकी जानकारीपर दृष्टि दें कि वस्तुका सही ज्ञान है अथवा नहीं? यदि यों देखने बैठेंगे कि दोषरहित कारणोंसे उत्पन्न हुआ हो तो पहले इन्द्रियका ही ज्ञान करने बैठ जावो कि इसकी इन्द्रियाँ दोषसहित हैं या दोषरहित हैं। कोई किसी चीजको दिखाये तो पहले देखने वालेकी आँखोंकी जाँच करने बैठें तब देखें, पर इस तरह तो व्यवहार नहीं बनता। और यों न अनुमानसे निर्दोष सिद्ध कर सकते, न तर्क आदिक प्रमाणोंसे सिद्ध कर सकते। यदि यह कहो कि जब यह ज्ञान हो गया कि यह सही ज्ञान है उससे यह समझ लिया जायेगा कि निर्दोष इन्द्रियसे यह ज्ञान उत्पन्न हुआ तो इसमें तो इतरेतराश्रय दोष है। जब पहले जान ले कोई कि निर्दोष इन्द्रिय है, इसको जो जान रहा है तब तो ज्ञान प्रमाण माना जायेगा और यहाँ यह कह रहे हैं कि ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान सही है, इससे यह समझा जायेगा कि इसकी इन्द्रियाँ निर्दोष हैं। तो इन्द्रियाँ निर्दोष सिद्ध हों तब तो ज्ञानकी प्रमाणता सिद्ध हो और जब ज्ञानकी प्रमाणता सिद्ध हो तो निर्दोष इन्द्रियाँ सिद्ध हों, तब तो कुछ भी सिद्धि न हो सकेगी। इससे पदार्थकी जानकारीमें निर्णय बनावें कि यह सही है या नहीं, इसकी सिद्धिके लिए इन्द्रियकी निर्दोषता जानना चाहिए और इन्द्रियाँ निर्दोष हैं या नहीं, इसके समझनेके लिए नया ज्ञान बन जायेगा। तो फिर वह नया ज्ञान भी सही है, इसके समझनेके लिए फिर निर्दोष साधन देखने पड़ेंगे, इस तरहसे अनवस्था दोष आ जाता है, और यों फिर प्रकृत ज्ञानका भी निर्णय न हो सकेगा। ऐसी अवस्थामें २-४-६ ज्ञानों तक जाकर यदि यह कहा जाये कि कोई ज्ञान ऐसा होता है तो स्वतः प्रमाण है, उसके लिए निर्दोष साधनको देखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। तो भला प्रथम हो प्रथम होने वाले ज्ञानको ही जानकारीके बलपर कोई नहीं प्रमाण मान लिया जाता। तो इस तरह निर्दोष साधनसे उत्पन्न होनेकी बात भी युक्त नहीं जंचती। ज्ञान है, जान रहा है। पदार्थमें वह बात है या नहीं, इस आधारसे प्रमाण और अप्रमाणपना हुआ करता है।

**प्रमाणके लक्षणमें सर्वलोकसम्मत विशेषणकी असंगतता** इसी प्रकार जो ५वाँ विशेषण दिया है कि जो ज्ञान अनेक लोगोंके द्वारा समर्थित हो वह प्रमाण है, यह भी कोई निर्णय नहीं है। अज्ञानी जीव भ्रान्त ज्ञानको ही सच्चा ज्ञान समझता है, तो क्या बहुत-से लोगोंके जान लेनेके कारण वह प्रमाण हो जायेगा? जो वस्तुके सही धर्मको जाने वह ज्ञान तो प्रमाण है और जो वस्तुस्वरूपके विपरीत निर्णय करे वह ज्ञान अप्रमाण है।

**प्रमाणकी प्रमाणताकी विधिपर विचार** यहाँ फिर मीमांसक कहता है कि देखो जितने भी प्रमाण होते हैं उनमें प्रमाणताका निर्णय खुद ही हुआ करता है और अप्रमाणताका निर्णय दूसरे ज्ञानसे हुआ करता है। यदि ज्ञानमें खुद प्रमाणपनेकी ताकत न हो तो किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा भी उसकी प्रमाणता निश्चित नहीं हो सकती। इस सम्बंधमें सिद्धान्त यह है कि यह किसी चीजका ज्ञान करते हैं तो यदि रोजकी समझीबूझी चीजोंका ज्ञान करते हैं तो ज्ञानकी प्रमाणता तो खुदकी बन जाती है; किन्तु अपरिचित जगह गए और किसी अपरिचित चीजका ज्ञान करते हैं तो उस ज्ञानकी प्रमाणता दूसरे ज्ञानसे बनती है। जैसे जिस तालाबमें रोज नहाते हैं उसके देखते ही ज्ञान हो जाता है कि यह इतना गहरा है और कोई नये तालाबपर पहुंचे तो वह लाठी डालकर देखेगा कि कितना गहरा है, तब वहाँ उतरता है। जिस नदीको रोज पार करते हैं तो जब-जब भी पार करेंगे उसका सही ज्ञान तुरन्त रहता है कि इस नदीमें इतनी गहराई है और इस रास्तेसे चलनेसे पार हो जाते हैं। अब कहीं दूसरे अपरिचित जगहमें नदी मिले तो उसमें धीरेसे पैर रखते हैं या आगे लाठीसे निश्चय करते हैं कि कितना गहरा है तो उसका प्रमाणपना दूसरे ज्ञानसे बनता है, जिसका सही भाव यह है कि इतने अभ्यास वाली बातमें तो ज्ञान खुद प्रमाण बनता है और अनभ्यासकी जगहमें ज्ञानकी प्रमाणता दूसरे ज्ञानसे बनती है। सिद्धान्त तो यह है, पर मीमांसक यहाँ यह कह रहे हैं कि चाहे अभ्यास वाली बात हो, चाहे अनभ्यास वाली बात हो, जब भी ज्ञान होगा तो उसकी प्रमाणता खुद ही बन जाती है। ऐसा कहने वाले मीमांसक यह क्यों नहीं मान बैठते कि जैसे प्रमाण सब जगह खुद बन जाता है याने यह ज्ञान ठीक है, यह निर्णय उस ज्ञानसे ही बन जाता है। उस ज्ञानके ठीकपनेका निर्णय करनेके लिए अन्य ज्ञानकी जरूरत नहीं रहती। तो ऐसे ही अप्रमाण ज्ञानको भी स्वतः क्यों नहीं मान ले जैसे यह ज्ञान ठीक है यह निर्णय खुद मानते हो, ऐसे यह ज्ञान ठीक नहीं है यह निर्णय भी खुद क्यों नहीं होता, अप्रमाणता भी स्वयं आनी चाहिए, क्योंकि ज्ञानमें तो कोई विशेषता नहीं है। प्रमाण हो रहा वहाँ भी ज्ञान है, अप्रमाण हो रहा वहाँ भी ज्ञान है। तो वहाँ निर्णय यह करना चाहिए कि जहाँ ज्ञानकी ठीकाई समझनेके लिए कुछ सोचना नहीं पड़ता, दूसरे ज्ञानसे समझना नहीं पड़ता ऐसा ज्ञान तो खुद प्रमाण है और जिस ज्ञानका ठीकपना समझनेके लिए कुछ सोचना पड़ता कि यह ठीक बात है या नहीं, हमने जो जाना वह सही है या नहीं, ऐसा सोचनेके लिए कुछ नया ज्ञान करना पड़ता है तो वह कहलाती है अनभ्यास दशा। वहाँ ज्ञानकी प्रमाणता दूसरे ज्ञानसे होती है। किसी भी ज्ञानमें

ऐसा नहीं है कि पहले तो वह साधारण ज्ञान बने और पीछे फिर प्रमाणपना या अप्रमाणपनाकी रचनाकी जाती हो। कोई भी ज्ञान होता तो वह स्वयं ही या तो प्रमाणरूप है या अप्रमाणरूप, मगर ज्ञान होता तो स्वयं है, पर उसकी प्रमाणताका निर्णय और अप्रमाणता क निर्णय परसे ही होता है। इससे सभी ज्ञानोंको स्वयं प्रमाण मानना अथवा परसे ही प्रमाण मानना, ऐसा कोई एकान्त नहीं है। अभ्यास दशामें तो प्रमाणका प्रामाण्य स्वतः है और अनभ्यास दशामें प्रामाण्य परतः होता है।

**स्वतः प्रामाण्य व परतः अप्रामाण्य माननेकी तर्कणा व समाधान** यहाँ मीमांसक स्वतः प्रमाण और परतः अप्रमाण माननेकी बात यों कह रहे हैं कि दोषरहित इन्द्रियसे जो ज्ञान होता है वह तो प्रमाणभूत है, स्वतः प्रमाण है और दोष वाली इन्द्रियसे जो ज्ञान बनता है वह अप्रमाण है। तो इन्द्रियमें दोषकी रचना अलगसे होती है और इन्द्रियाँ निर्दोष रहें, यथार्थ रहें, यह मेरा स्वरूप ही है। जैसे किसी मनुष्यकी आँखें शुरूसे अच्छी हैं और पीछे मोतियाबिन्दु हो या अंधेरा छाये, कोई दोष आये तो दोष बादमें लगनेकी चीज है और इन्द्रियाँ स्वयं गुणवान होती हैं, इस आधारपर प्रमाणपने और अप्रमाणकी बात कह रहे हैं, मगर उनका आधार सही नहीं है। यदि बहुतसे मनुष्य सही आँखें लेकर पैदा होते हैं। तो कोई मनुष्य जन्मसे बिगड़ी हुई आँखें लेकर भी पैदा होता है। इन्द्रियाँ तो रचना हैं, दोष वाली इन्द्रियाँ बनें यह भी जन्मसे हो सकता है, दोषरहित इन्द्रियाँ बनें यह भी जन्मसे हो सकता। तो इन्द्रियका गुण और इन्द्रियका दोष ये दोनों ही परतत्त्व हैं। उसमें यह न समझना कि निर्दोष इन्द्रियाँ बनें, यह तो इन्द्रियोंका स्वरूप है और दोष आये तो वह बाहरी उपाधि लगनेकी बात है। इन्द्रियाँ तो पौद्गलिक रचना है। प्रारम्भसे कैसी ही बन जायें? तो जैसे इन्द्रियका गुण और दोषका स्वभाव नहीं है। हो जाये जो कुछ सो सही है, ऐसे ही ज्ञानमें प्रमाणता और अप्रमाणता इनमें कोई स्वाभाविक स्वतः हो, सो बात नहीं है। प्रमाणपने और अप्रमाणपनेका निर्णय अभ्यास दशामें स्वतः होता है और अनभ्यास दशामें परसे होता है।

**अभ्यास व अनभ्यास दशामें प्रामाण्यकी उत्पत्तिकी विधिका भेद** इस सूत्रमें पहले प्रमाणके स्वरूपका निर्णय किया। अब यह चर्चा यह चल रही है कि प्रमाणमें प्रामाण्यकी उत्पत्ति खुद-ब-खुद होती है या किसी अन्य कारणसे होती है? इसके बाद फिर यह बताया जायेगा कि प्राप्ति खुद-ब-खुद होती है अथवा अन्य कारणोंसे होती है। तो उत्पत्तिके सम्बंधमें मीमांसकोंका यह सिद्धान्त है कि प्रामाण्यकी उत्पत्ति तो स्वतः होती है और अप्रामाण्यकी उत्पत्ति परतः होती है। इस सिद्धान्त वालोंका यह आशय है कि सही ज्ञान होना यह तो एक उत्सर्ग है। तो स्वतः होता ही है। किन्तु कोई दोष वगैरा आ जाये तो प्रमाणता आती है। सो अप्रामाण्यकी उत्पत्ति परतः होती है। जैसा पदार्थ है वैसा पदार्थका बोध होना, इसीके मायने तो प्रमाणता है। सो यह प्रमाणता तो जीवोंकी ईमानदारीकी बात है। अब पदार्थमें विपरीतपना करनेका कोई कारण हुआ, उससे अप्रामाण्य बना तो यह अप्रामाण्य है, इसका ज्ञान दोषसे बनता है। जैसे किसीने सफेद शंखको पीला शंख समझ

लिया तो वह पीला समझ रहा है और उसमें श्रम भी नहीं कर रहा है, किन्तु जब यह ज्ञान हो जाये कि इसको कामला रोग है और ये सभी चीजें पीली दिख रही हैं तो दोषका ज्ञान होनेसे अप्रामाण्यका ज्ञान बन जाता है। इस तरह प्रामाण्य तो स्वतः है और अप्रामाण्य परतः होता है। उक्त बात बिना विचार किए बहुत सहीसी जंचती है, लेकिन यह देखना है कि प्रमाण है या अप्रमाण, इसका निर्णय किसको चाहिए? यह निर्णय चाहिए छन्दस्थ जीवोंको और उनका मिथ्या ज्ञान अप्रामाण्यताका प्रायः प्रकृतिसे चली आ रही है। और विशिष्ट ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो, अन्य गुण हो तो उससे प्रामाण्यका बोध होता है। तो उस निगाहमें यह भी तो हो सकता है कि अप्रामाण्यकी उत्पत्ति तो प्रकृत्या हो रही जीवोंके और प्रामाण्यकी उत्पत्ति जब गुण हो, कोई विशिष्टता हो तब होती है। तो यों अप्रामाण्य तो उत्सर्ग बन गया याने स्वतः हो जाये, ऐसा बन गया। और प्रामाण्य अप्रामाण्य बन गया। तब न प्रामाण्यके लिए कहो कि न स्वतः है, न परतः, न अप्रामाण्यके लिए कहो। बात यह है कि प्रामाण्य अभ्यास दशामें तो स्वतः है और अनभ्यास दशामें परतः है। जिस चीजको हम रोज-रोज देखते हैं तो जब-जब देखते हैं तब-तब वह प्रमाण रहता है। इसमें कुछ दिमाग नहीं लगाना पड़ता। तो यहाँ प्रामाण्य स्वतः हो गया। कोई अनजान जगहमें जहाँ और दूरसे कोई चीज दिखे अथवा कोई चिन्ह नजर आये तो वहाँ कुछ दिमाग लगाया जाता कि बात ऐसी है या नहीं? किसीको प्यास लगी। चला जा रहा है रास्ते में। खूब खोज रहा कि कहीं पानी मिले। जल चाहिए। कहीं मेढकोंकी आवाज सुननेमें आयी, उससे कुछ ख्याल किया कि यहाँ पानी होना चाहिए। कुछ और पास गया तो फूटे घड़े मिले, उससे और निर्णय किया कि पानी होना चाहिए। तो कुछ और पास गया, कुछ सफेदी नजर आयी, तब अनुमान बनता है कि होना चाहिए पानी और जाकर फिर समझ लिया। तो अनभ्यासकी स्थितिमें ज्ञानकी प्रमाणता परतः होती है।

**दोष-गुणका भेद डालकर प्रामाण्य व अप्रामाण्यमें स्वतः परतःका भेद डालनेकी असम्भवता** यहाँ मीमांसक सिद्धान्तानुयायी यह बतलाते हैं कि ज्ञानके कारणभूत जो गुण होते हैं वे कोई अलग चीज नहीं हैं, किन्तु दोषका अभाव हो, वही गुण कहलाता है। जैसे किसीकी आँखें निर्दोष हैं तो कोई खास बात नहीं है। आँखका स्वरूप ही ऐसा है, पर वहाँ धुंधली कामला फुली हो जाये तो वह अलग-सी चीज है और वह दोष कहलाती है। तो गुण कोई अलग चीज नहीं किन्तु दोषका जो अभाव है सो गुण है। और इस तरह गुणसे होता है प्रामाण्य और गुण कोई स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है। तो यों प्रामाण्य स्वतः हो गया और दोष, आँखकी फुली आदिक ये अलगसे कोई चीज बनती हैं और उनके कारण ज्ञानमें अप्रमाणता आती है। तो यों अप्रामाण्य परतः हो गया, ऐसा कहना उनका यों युक्ति नहीं है कि जो इन्द्रिय हेतु है यह खुद उत्पन्न होता है। सो उत्पन्न होते हुएमें पुद्गल पिण्ड है, कैसा ही बन गया। सही बन गया कुछ और बिगाड़ बन गया। सही बने तो परचीज है, बिगाड़ बने तो परचीज है। तो इन्द्रिय आदिक तोपर हैं ही। उनमें गुणोंको स्वाभाविक क्यों कहा

जा रहा? और किसी-किसी जन्मान्ध पुरुषके जो पैदा होते ही अन्धा है लो उसके प्रकृतिसे ही यह दोष पाया गया। तो गुण भी पुद्गलपिण्ड है, दोष भी पुद्गलपिण्ड है, याने इन्द्रियमें जो निर्दोष रचना है वह भी पौद्गलिक है और जो दोष रचना है वह भी पौद्गलिक है। वहाँ यह छांट नहींकी जा सकती कि गुण तो प्रकृत्या हैं और दोष औपाधिक हैं, सभी औपाधिक हैं, इन्द्रिय मात्र ही औपाधिक हैं। प्रामाण्य स्वतः होता है। इसके समर्थनमें मीमांसक सिद्धान्तके अनुयायी एक यह युक्ति रखते हैं कि जैसे धूम देखकर अग्निका ज्ञान हुआ तो चूँकि अग्निसे धूमका अविनाभाव है तो अग्निसे अविनाभाव सहितपना धूमका होना, यह यह तो धूमका स्वभाव है। कोई धूम साधन अलगसे गुण नहीं, किन्तु वह तो हेतुका अन्वय ही है। और कोई भापमें धुवेंका ज्ञान किया तो वह भाप जिसकी धूमकी तरह आभास किया गया उसमें अविनाभाव नहीं है, तो अग्निमें अविनाभाव नहीं है, यह औपाधिक दोष हो गया। इस तरहकी दलील देकर यहाँ यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ऐसा ही इन्द्रियमें दोष आना तो औपाधिक है और दोषका अभाव रहना, गुणका होना, यह कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं, किन्तु स्वाभाविक ही है। यह दलील यों सिद्ध नहीं होती कि जैसे धूम देखा और धूमाभास देखा तो धूम भी किसी उपाधिसे हुआ और धूमाभास भी उपाधिसे हुआ तो धूमकी तरह जो इसका धूमाभास देखा जाये कि हेत्वाभास है तो वह भी तो अग्न्याभासके बिना नहीं होता, इसलिए तो बात धूम हेतुकी कहे हो वही बात धूमाभास, हेत्वाभासमें भी घटित होती है। इससे सीधा मानना चाहिए कि इन्द्रियाँ सब औपाधिक हैं, गुण भी औपाधिक है। किसी चीजमें जो ज्ञान बना तो ज्ञानकी उत्पत्ति तो परतः ही हुई छद्मस्थ जीवों के। यह एक निश्चयनयकी बात है कि ज्ञान तो अपने ही ज्ञानस्वभावका उपादान कारण होता है, ठीक है यह बात, किन्तु सदा क्यों नहीं ज्ञान होता रहता है छद्मस्थ जीवों के? उसका उत्तर क्या होगा? उसका उत्तर यह ही है कि यह ज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्त पाकर होता है। तो इन्द्रिय और मन ही उपाधि है। और उसमें गुण हुए तो उपाधि, दोष हुए तो उपाधि। गुण और दोषकी ओरसे स्वतः और परतः प्रमाणताकी उत्पत्ति न कहो, किन्तु दूसरी जानकारी है, अभ्यासकी स्थिति है, वहाँ तो ज्ञानमें प्रमाणता स्वतः आती है और जहाँ अनभ्यासकी स्थिति है वहाँ प्रमाणता परतः आती है।

**शब्द व शब्दाभासके भेदका उदाहरण देकर प्रामाण्य व अप्रामाण्यको विश्लेषण करनेकी असंगतता** अब इस प्रसंगमें मीमांसक सिद्धान्तके अनुयायी एक नवीन बात और रखते हैं कि जैसे शब्द और शब्दाभास, शब्द तो अपने आप ही अपना अर्थ बता देता है, किन्तु जहाँ झूठे टेढ़े शब्द आयें उनका अर्थ लगानेमें दोनोंका लगाया जाता है और वे मिथ्या अर्थके प्रतिपादन करने वाले होते हैं तो जैसे शब्द स्वयं ही अपने वाच्य अर्थको समझनेमें तत्पर है और शब्दाभास मिथ्या अर्थके प्रतिपादक होते हैं तो शब्दाभाससे तो अप्रमाणता होती है और शब्दसे प्रमाणता होती है। यह कहना भी उनका युक्त नहीं है, क्योंकि शब्दसे जो वाच्यार्थ जाना जाता वह भी गुण युक्ति अनुभवके बिना

जाना जाता। और शब्दाभाससे मिथ्या अर्थ जाना जाता, वह भी परतः जाना जाता। कोई अन्तर नहीं है। और इस तरह जैसे आगम स्वतः माना जाता मीमांसक सिद्धान्तमें ऐसे ही उनकी दृष्टि जो कुशास्त्र हैं वे भी अप्रमाण स्वतः ही बन जाते। जैसे निर्दोष वक्ताके होनेपर प्रमाणता भली प्रकार प्रतीत होती है ऐसे ही दोषयुक्त वक्ताके होनेपर शब्दके दोष भी भली-भाँति जाने जाते हैं। तो गुण और दोष दोनोंकी परीक्षा भिन्न-भिन्न कारणों द्वारा प्रतीत हो जाता है। इससे वक्तामें गुण हैं तो उसके वचन प्रमाण हैं। वक्तामें दोष हैं तो उसके वचन अप्रमाण हैं। प्रमाणका कारण जैसे गुण है, अप्रमाणका कारण वैसे ही दोष है। अथवा जैसे शंकाकार यह कहता है कि जहाँ कोई वक्ता ही नहीं है वहाँ वक्ताके आश्रयसे दोष नहीं होते, याने आगमको प्रमाण माननेमें मीमांसकोंका यह हेतु है कि आगम अपौरुषेय है, किसीने बनाया नहीं है, इसलिए प्रमाण है। अगर कोई बनाये वक्ता उन शब्दोंकी रचना करके लिखे तो उसमें दोष आयेंगे। तो आगमका कोई रचयिता नहीं, वक्ता नहीं, इसलिए आगम निर्दोष है तो वक्ताका अभाव होनेसे अगर निर्दोषता मानी जाती है तो देखो जब मेघ गरजते हैं तो वहाँ कोई वक्ता तो नहीं है और शब्द तो उत्पन्न हो ही रहे हैं तो वे गुण क्यों नहीं कहलाने लगते? आगमकी तरह वे भी प्रमाण क्यों नहीं माने जाते? इससे अन्य-अन्य बातें सोचना बेकार है। सीधा ही मानना चाहिए कि वीतराग सर्वज्ञदेवकी वाणी प्रमाण है और सराग छद्मस्थ वाणी अप्रमाण है। यदि सराग छद्मस्थ योगोंकी वाणी प्रमाण है तो उसमें कारण वीतराग सर्वज्ञदेवकी वाणीकी परम्परा है। यों देववाक्योंको किसीने नहीं बनाया इस कारण प्रमाण है यह हेतु युक्त नहीं है, किन्तु वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित हो तो प्रमाण है और सदोष वक्ताके द्वारा प्रतिपादित हो तो वह अप्रमाण कहलाता है।

इस तरह प्रमाणमें प्रमाणताका आना गुणके आश्रयसे है और अप्रमाणताका आना दोषके आश्रयसे है, पर हम आप जीवोंको जो प्रमाणताका बोध होता है तो अभ्यासके प्रसंगमें खुद होता है, और अनभ्यासके प्रसंगमें पर-कारणोंसे होता है। कोई ऐसा कहे कि भाई जैसे प्रमाणता खुद होती है यों अप्रमाणता भी खुद होती है। दोनों ही मान लो। क्या आपत्ति आती है, क्योंकि जब ज्ञान बन गया तो अपनी रचनामें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहींकी जाती।

ऐसा एकान्त कहने वाले अनुभवसे विचार करें कि खुदको भी कभी प्रमाणता स्वतः होती है तो कभी परतः भी होती है, ऐसे ही अप्रमाणता भी कभी स्वतः होती है ते कभी परतः भी होती हैं। अतः एकान्त नहीं है। प्रमाणताकी उत्पत्ति अभ्यास दशामें स्वतः है, अनभ्यास दशामें परतः होती है। हाँ, अप्रमाणताकी उत्पत्ति परतः होती है। इस प्रकार प्रमाणकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ वर्णन करके अब प्रामाण्यकी ज्ञप्तिके सम्बंधमें वर्णन करेंगे।

**प्रामाण्यकी व अप्रामाण्यकी ज्ञप्तिके विषयमें स्वतः व परतः होनेकी मीमांसा** प्रमाणमें प्रामाण्यकी उत्पत्ति और प्रामाण्यकी ज्ञप्ति ये दो विषय अलग-अलग हैं। इनका अर्थ है कि प्रमाणमें प्रमाणता



आना सो तो है, प्रामाण्यकी उत्पत्ति और उस प्रामाण्यका पता लगाना, जानकारी करना इसका नाम है ज्ञप्ति। तो अभी प्रामाण्यकी उत्पत्तिके सम्बंधमें वर्णन चला था और उस सम्बंधमें यह निर्णय हुआ था कि किसी प्रामाण्यकी उत्पत्ति स्वतः होती है और किसी अवसरपर परतः होती है। अब ज्ञप्तिके सम्बंधमें कुछ दार्शनिकोंकी धारणा है कि अप्रामाण्यकी ज्ञप्ति भी स्वतः होती है और जैसे प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः होती है उसी प्रकार अप्रामाण्यकी ज्ञप्ति भी स्वतः हो जाये, उसमें हम कोई विवाद नहीं करते। इस प्रकार कुछ दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। जैसे कि नैयायिक जन तो प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः ही मानते हैं, किन्तु मीमांसक लोग सभी ज्ञानोंमें प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः मानते हैं; अर्थात् यह ज्ञान समीचीन है, प्रमाण है, इस प्रकारकी जानकारी स्वयमेव हुआ करती है। उनके प्रति यहाँ आचार्य महाराज इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि ज्ञप्ति अभ्यास दशामें तो स्वतः होती है; अर्थात् जिस विषयमें जानकारीका हमें अभ्यास चल रहा है और यथावसर उस चीजका कभी ज्ञान होता है, तो उसमें प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः हो जाती है। जैसे जिस कुर्वसे रोज पानी भरते हैं, जिस तालाबमें रोज लोग नहाया करते हैं, जिस किसी भी कार्यको किया करते हैं, रोज जानकारी रहा करती है। उसकी जब-जब भी जानकारी बनती है तो वह सत्य है, प्रमाण है, ऐसी जानकारी करनेके लिए नया ज्ञान करनेकी आवश्यकता नहीं होती कि मेरा ज्ञान सही है अथवा नहीं, लेकिन अनभ्यास दशामें प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः होती है। अनजान जगहमें जा रहे हैं, प्यास लगी है पानीकी तलाश है, कुछ तालाबके चिन्ह दिखे जैसे मेंढककी आवाज आयी, थोड़ा और गए उस दिशामें तो कलश फूटे मिले, उससे ज्ञान होता जा रहा है कि यहाँ पानी होना चाहिए। तो वहाँ जो सरोवरका ज्ञान किया जा रहा है वह ज्ञान सही है या नहीं, इसकी पहिचान अन्य ज्ञानोंसे बन रही है। तो अनभ्यास दशामें ज्ञानकी समीचीनता परतः होती है। यदि सर्वथा एकान्त कर लिया जाये कि ज्ञानमें प्रामाण्यपनेकी ज्ञप्ति स्वतः होती है तो अनभ्यास दशामें भी प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा किसीका अनुभव नहीं बता रहा। अनभ्यास दशामें तो परसे ही तत्त्व निर्णय बन पाता है। तो न परतः ज्ञप्ति होती है, यह एकांत करना चाहिए और न स्वयं ज्ञप्ति होती है, यह एकान्त करना चाहिए।

**अभ्यासदशामें परतः माननेकी प्रतीतिविरुद्धता** जो लोग अभ्यास दशामें भी परसे ज्ञप्ति मानते हैं प्रामाण्य की, उनके यहाँ यह दोष है कि फिर तो जिस ज्ञानसे प्रमाणपनेका निर्णय किया उस ज्ञानके प्रमाणपनेका निर्णय अन्य ज्ञानसे होगा, फिर उसके भी प्रमाणपनेका निर्णय अन्य ज्ञानसे होगा। इस तरह ज्ञायक प्रमाणकी अनवस्था बन जायेगी। फिर निर्णय ही कुछ न हो सकेगा। यदि बहुत दूर चलकर यह कहा जाये कि किसी बातको समझनेके लिए ज्ञान बना और उस ज्ञानकी सत्यता समझनेके लिए दूसरा ज्ञान बना, दो-तीन ज्ञान बननेके बाद कोई ज्ञान ऐसा होता है कि जिसकी ज्ञप्ति स्वतः होती है। तो जैसे कुछ ज्ञानकी परम्परा चलकर स्वतः ज्ञप्ति मानी, ऐसे ही किसी ज्ञानमें पहले-पहले ही क्यों न स्वतः ज्ञप्ति हो जायेगी? तो प्रमाणमें प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः होती है,

यह भी एकान्त नहीं अथवा स्वतः होती है, यह भी एकान्त नहीं। प्रामाण्यकी उत्पत्ति और ज्ञप्तिके लिए यह ही तो निर्णय बनाते हैं लोग कि इन्द्रियमें ज्ञानके कारणोंमें कोई दोष नहीं है, इसलिए प्रामाण्य है और दोष है तो अप्रामाण्य है। तो जहाँ कहीं अनभ्यासकी स्थिति है, अनजान क्षेत्रकी घटना है वहाँ ज्ञान होते समय इसका कुछ विचार नहीं चलता कि मेरे ज्ञानके कारण उस दोषका अभाव है या गुणका अभाव है, क्योंकि यह विचार स्वतः नहीं किया जा सकता। तब यह मानना चाहिए कि अनभ्यास दशामें प्रामाण्यकी ज्ञप्ति भी परतः होती है, इसी तरह अनभ्यास दशामें वक्ताके दोष-गुणका निर्णय भी नहीं बनता। और जब निर्णय नहीं बनता तो एक बात तुरन्त कैसे घट जायेगी अवभ्यास दशामें कि वक्ताके गुण होना और दोष होना यह वक्ताके अधीन है। इसमें जो बात जनसाधारणके अनुभवमें आती है, वह अनुभव यथार्थ है कि जहाँ कहीं परिचित बातका निर्णय है वहाँ प्रामाण्य स्वतः हो जाता है। और स्वतः जान भी लिया जाता है और जहाँ अनजान क्षेत्रकी घटना है वहाँका ज्ञान परतः समझा जाता है कि यह ज्ञान सही है।

अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि प्रामाण्यकी ज्ञप्ति और अप्रामाण्यकी ज्ञप्ति चाहे अभ्यास दशा हो, चाहे अनभ्यास दशा हो, दूसरे कारणोंसे होती है, लेकिन यह बात उनके यों घटित नहीं होती कि जिस ज्ञानके द्वारा प्रमाणका सच्चापन जाना गया उस ज्ञानका भी तो पहले सच्चापन समझमें आना चाहिए। जब ये नये-नये ज्ञान बनेंगे तो यह अनवस्था दोष होगा। मानना पड़ेगा हर एकको कि कोई ज्ञान ऐसा होता है कि जिसकी सच्चाईका ज्ञान उसी ज्ञानसे हो जाता है, उसके लिए नया ज्ञान उत्पन्न नहीं करना पड़ता। यदि यह शंकाकार कहे कि यह ज्ञान प्रमाण है, इसका निर्णय तो प्रवृत्तिसे बनता है। जैसे प्यासे पुरुषने सरोवरमें जलका ज्ञान किया, तो उसका ज्ञान सही है यह बात पीनेसे या नहानेसे समझी जायेगी तो ज्ञान परतः ही तो हुआ। इस विषयमें अधिक विवाद न कर अपने आपके अनुभवसे समाधान लें तो यही निर्णय पावेंगे कि अभ्यास दशामें प्रमाणके प्रामाण्यकी ज्ञप्ति स्वतः होती है और अनभ्यास दशामें प्रमाणके प्रामाण्यकी ज्ञप्ति परतः होती है।

**सिर्फ प्रत्यक्ष प्रमाणको मानकर अन्य प्रमाणोंके निराकरण करनेके विकल्पकी असंगतता** मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, ये ५ ज्ञान हैं और ये दो प्रमाणरूप हैं, ऐसा असलमें जो 'प्रमाणे' शब्द कहकर द्विवचनका रूप दिया है उस सम्बंधमें चार्वाक शंका करते हैं कि प्रमाण दो हो नहीं सकते। प्रमाण केवल एक होता है प्रत्यक्ष याने प्रत्यक्षसे जो जाना, समझा, प्रमाण वह ही है, बाकी ज्ञान तो गौण हैं और वे प्रत्यक्षकी ही सेवा करते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष ही मुख्य है, अन्य ज्ञानोंसे पदार्थका निर्णय नहीं होता। प्रत्यक्षकी प्रमाणतामें यह युक्ति है कि प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है, क्योंकि वह अपने और पदार्थके निर्णय करनेमें अन्यकी अपेक्षा नहीं करता। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष ही तो अन्य ज्ञानके जन्मका निमित्त है। तो मुख्य तो प्रत्यक्ष ही है। भले ही अन्य ज्ञानको गौण रूपसे मान लिया जाये, पर गौण तो गौण ही कहलाता है। मुख्य प्रमाणको ही वास्तविक माना जायेगा।

गौण पदार्था प्रमाणभूत नहीं माना जाता, क्योंकि यदि गौण बातको प्रमाण मान लिया जाये तो नेत्र, चश्मा, क्लब आदिक जड़ पदार्थ भी प्रमाण बन बैठेंगे, क्योंकि गौण रूपसे उन साधनोंकी भी आवश्यकता होती है। इस कारणसे एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि यही प्रत्यक्ष प्रमाण समस्त विषयोंकी व्यवस्था करनेके कारण प्रमाणभूत है। ऐसा चार्वाक जन अपना विचार रखते हैं। अब उनके समाधानकी बात सुनो जो चार्वाकोंका यह कहना है कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है तो प्रत्यक्ष तो कोई वर्तमान ही तो नहीं है। भूत प्रत्यक्ष भी होता, भावी प्रत्यक्ष भी होता और अनेक प्राणियोंके प्रत्यक्ष ज्ञान चलता तो ये सारे प्रत्यक्ष एक स्वतः ही हो रहे हैं या अन्य प्रत्यक्षसे वे सिद्ध होते हैं? उन प्रत्यक्षोंमें प्रमाणता क्या स्वतः बनती या अन्य प्रत्यक्षोंसे उन प्रत्यक्षोंमें प्रमाणता बनती है? यदि कहो कि सभी प्रत्यक्षोंकी अपने आपसे ही सिद्धि हो जाती है तो फिर दूसरेके प्रत्यक्षोंकी सिद्धि हमें तो नहीं हुई। जब हम गुरु परोपकारी पुरुषोंके किसी भी ज्ञानका हमें प्रत्यक्ष नहीं बनता तो हम उनका गुणगान करनेके अधिकारी नहीं हो सकते, क्योंकि गुरुजनोंके जो ज्ञान होता है उसके प्रत्यक्षसे प्रमाणपनेकी सिद्धि हमें कैसे हो सकती है? बहुत पहले गुरुवोंको प्रत्यक्ष हुआ था, उसको हम समझ नहीं तो फिर गुणगान भी नहीं कर सकते। जैसे पूर्वमें जो आचार्य हुए उनको प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ था, यह हम कैसे समझ सकते हैं? और जब हम अपने प्रत्यक्षसे उसे न जान सके तो उनका गुणगान करना भी व्यर्थ ही है।

यदि कहो कि अन्य प्रत्यक्षसे होगा तो उसकी प्रत्यक्षता अनयसे होगी, यों अनवस्था दोष आयेगा। यदि कहो कि किसी-किसी प्रत्यक्षमें प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है तब इसमें एक स्याद्वाद सिद्धान्त ही तो आया और फिर इसमें भी एक प्रश्न उठता है कि सम्पूर्ण जीवोंके सभी प्रत्यक्षोंका स्वयं अपने आप ही प्रमाणपना सिद्ध हो रहा तो यह कैसे जाना कि मनको अपने ही ज्ञानसे प्रत्यक्ष प्रमाणपना सिद्ध कैसे हुआ? क्योंकि चार्वाक जन किसी सर्वज्ञको नहीं मानते, किसी विशेष परमार्थिक प्रत्यक्ष वालेको नहीं मानते, क्योंकि इन्द्रियसे ही जो कुछ प्रत्यक्ष होता है उस ज्ञान तकको ही ये समझ पाते हैं। तो जब हम दूसरेके प्रत्यक्षको नहीं समझ सकते तो हम उनका गुणगान भी कैसे कर सकते? गुण ही नहीं ज्ञात हैं तो उनकी स्तुति कैसेकी जा सकती? यदि कहो कि अन्य प्रमाणोंसे सभी प्रमाणोंके प्रत्यक्षका ज्ञान होता तब फिर किसीकी व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। इससे एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, अन्य कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहना एक प्रलाप मात्र है। और फिर प्रत्यक्षमें प्रमाणता है इसकी सिद्धि युक्तिसे कर रहे हो तो अनुमान तो प्रमाणने ही किया। प्रत्यक्षमें प्रमाणता अनुमानमें सिद्ध करते हुए हेतु देकर और फिर कहे जाते कि प्रत्यक्षमें भी प्रमाण है तो कैसी स्ववचन विरुद्ध बात कह रहे हैं? जैसे कि पहले बताया चार्वाकोंने कि प्रत्यक्ष ही नया प्रमाण है, क्योंकि अपने और पदार्थके निर्णय करनेमें प्रत्यक्षसे अन्यकी अपेक्षा नहीं होती, फिर प्रतिज्ञा और हेतु कहकर पूरा अनुमान बनाया और उससे प्रमाणता प्रसिद्धकी और

फिर अनुमानका व अन्य प्रमाणका खण्डन किया जा रहा है। कैसे एक मात्रा प्रत्यक्ष ही प्रमाणकी मुख्यता चार्वाकके सिद्ध हो सकती है?

एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, ऐसा चार्वाकका कथन तो यों भी युक्त नहीं है कि प्रत्यक्षकी प्रमाणताको सिद्ध करनेके लिये कमसे कम अनुमान तो मानना ही पड़ेगा, इस विषयमें चार्वाकने जो यह कहा था कि प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है, क्योंकि वह स्व और पदार्थके निर्णय करनेमें अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता। सो ऐसा चार्वाकका कहना तो अनुमानमें भी घटित हो जाता है। अनुमान भी मुख्य प्रमाण है, क्योंकि अपने और पदार्थ निर्णयमें अनुमान भी प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता। यदि चार्वाक कहें कि अनुमान प्रमाणकी उत्पत्तिमें तो अन्यकी अपेक्षा रहती है, जैसे साधनसे साध्यका ज्ञान किया तो उत्तर उसका यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण भी तो अपनी उत्पत्तिमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखता है। यदि चार्वाक यह कहें कि हमारा प्रयोजन है कि प्रत्यक्ष प्रमाण किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखता तो उसका उत्तर भी यही है कि अनुमान प्रमाण भी अपनी उत्पत्तिमें अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रखता, और जो कुछ यह दिख रहा है कि पक्षवृत्ति होना, सपक्षमें रहना, विपक्षसे हटना आदिक से अनुमानकी उत्पत्ति होती है, सो वे सब हेतुके विशेषण हैं और हेतुसे अनुमानकी उत्पत्ति होती है। तो यों प्रत्यक्ष प्रमाणकी भांति अनुमान प्रमाण भी है। इस तरह दो प्रमाण मानने चाहिए। चार्वाकका यह कहना था कि प्रत्यक्ष मुख्य प्रमाण है, क्योंकि यह ही अन्य प्रमाणके जन्मका निमित्त कारण है, सो उनका यह कहना व्यभिचार दोषसे युक्त है, क्योंकि हेतु सादृश्य ज्ञान, संकेतज्ञान, व्याप्तिज्ञान आदि प्रमाणोंका तो प्रत्यक्ष निमित्त नहीं बन रहा। यहाँ तो यह साधन आदिक ही अनुमान आदिक प्रमाणोंकी उत्पत्तिका कारण है, लेकिन प्रमाणान्तरकी उत्पत्तिके कारण होनेसे प्रत्यक्ष बन जाय, यह बात यहाँ तो न घटी। ये सब हेतु वगैरा अनुमान प्रमाणके जनक बन गए। तो प्रत्यक्ष मुख्य है, प्रमाणान्तरकी उत्पत्तिका कारण होनेसे यह बात भी गलत हो जाती है।

यदि चार्वाक यह कहें कि पदार्थके न होनेपर प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए मुख्य प्रमाण है तो यही बात तो अनुमानमें भी है। यदि पदार्थका सद्भाव नहीं है, जिसको कि सिद्ध किया जाता है तो उनका अनुमान भी प्रमाण नहीं बनता। इस कारण चार्वाकका यह कहना कि एक सामने जो दिखता है, ऐसे ही एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य कोई प्रमाण नहीं है, यह बात संगत नहीं है। यदि चार्वाक यह कहें कि प्रत्यक्ष प्रमाण सम्वादी है अर्थात् उस प्रमाणको जानकर पदार्थकी उत्पत्ति हो जाती है, इस कारण प्रत्यक्ष मुख्य प्रमाण है, तो यह कहना उनका ठीक तो है, परन्तु सम्वादकपना तो अनुमानमें भी बनता। अनुमानसे भी जानकर पदार्थकी प्राप्ति कर ली जाती है, तो अनुमान क्यों नहीं प्रमाण माना जा रहा? यदि चार्वाक यह कहें कि प्रत्यक्ष जो है वह वस्तुको विषय करता है इस कारण मुख्य प्रमाण है तो भाई अनुमान भी तो वस्तु ही विषय करता है। वस्तुतः उत्तर किसको पाना है?

ज्ञानसे जानकर जिसका कोई लाभ उठाना है वही ज्ञानमें आये, यही तो वस्तु विषयक ज्ञान कहलाता, सो यह तो अनुमानमें भी है, इस कारण अनुमान भी है।

**प्रत्यक्ष व अनुमान दो ही प्रमाण हैं ऐसे विकल्पकी असंगतता** क्षणिकवादी कह रहे हैं कि उक्त प्रकारसे मुख्य प्रमाण दो मान लेने चाहिए। प्रत्यक्ष और अनुमान। 'तत्प्रमाणे' सूत्रमें भी द्विवचनका रूप है प्रमाणे। सो भी सही हो जायेगा कि प्रमाण दो प्रकारका होता है। सो प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रकार मानने वाले भी यथार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि अनुमान प्रमाण माने तो यह तो निर्णय करना ही पड़ता है तब अनुमान बनता है कि जितना कोई धूम है वह सब अग्निसे उत्पन्न हुआ या अनग्निसे उत्पन्न नहीं होता, ऐसा तो समझना ही पड़ेगा। बस इसीका ही नाम व्याप्ति है, तो व्याप्तिका ज्ञान किए बिना अनुमान प्रमाण तो नहीं बन सकता। तो जो अनुमान प्रमाण मानते हैं इनको तर्क नामका प्रमाण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि तर्क ज्ञान बिना साध्य साधनकी व्याप्ति नहीं समझी जा सकती। और साध्य-साधनकी व्याप्ति जाने बिना अनुमान प्रमाण बन नहीं सकता। यदि क्षणिकवादी यह कहे कि सबको जानने वाले जो योगीश्वर हैं उनकी प्रत्यक्षसे व्याप्ति सिद्ध हो जायेगी। तो इसके समाधानमें सोचिये कि कितनी असंगत बात कही जा रही है कि योगियोंको तो समस्त भूत, भविष्य, वर्तमान त्रिलोकवर्ती पदार्थका ज्ञान चल रहा है तो उनको सभी विषयोंमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है। उनको अनुमान ज्ञान नहीं हुआ करता। व्याप्तिका ज्ञान तो खुदको करना है जिसको कि अनुमान बनाना है। तो खुदको तो व्याप्तिका ज्ञान है नहीं। भले ही सर्वज्ञको ज्ञान होता रहे, उससे इसको क्या लाभ हुआ? जब ये अल्पज्ञानी जीव जो कि अनुमान करना चाहे रहे हैं वे व्याप्तिको जान नहीं रहे हैं तो न उनको स्वार्थानुमान ज्ञान हो सकता और परार्थानुमान हो सकता। भगवान योगीश्वर सर्वज्ञ समग्र वस्तुको जानते हैं, पर उनका ज्ञान-व्यापार ऐसे तर्कणा, विचार विकल्प रूपमें नहीं हुआ करता, इस कारण व्याप्तिका ज्ञान जब न हुआ इस अनुमान करने वालेको तो अनुमान प्रमाण कैसे बन सकता है? और जैसे सर्वज्ञ ज्ञानसे व्याप्ति मानकर अनुमान नहीं बनता ऐसे ही एक देश प्रत्यक्षज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी इनके प्रत्यक्षसे भी व्याप्ति बनकर अनुमान नहीं बन सकता। जिसको अनुमान बनाना है, उसको ही व्याप्तिका ज्ञान चाहिए। तो तर्क प्रमाण मानना पड़ा ना? यदि तर्क प्रमाण न हो तो व्याप्तिका निश्चय हो नहीं सकता इसलिए अनुमान प्रमाण है। प्रत्यक्ष अनुमान ऐसा दो ही कहने वालेको तर्क प्रमाण मानना प्रथम ही आवश्यक हो गया।

इस प्रकार जब तर्क प्रमाणकी सिद्धि हो गई तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी सिद्ध हो जाता है। कमसे कम और नहीं तो साध्य-साधनकी व्याप्ति बनाते समय बहुत-सी जगहका साध्य-साधन तो स्मरणमें आना ही पड़ता है और फिर उससे प्रत्यभिज्ञान भी बनता, सदृशका ज्ञान भी होता। तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी उनको प्रमाण मानते ही होंगे। इस तरह सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मृतिज्ञान

प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये प्रमाण जो मतिज्ञानके अनर्थान्तर हैं ये मानने आवश्यक हो गए और ये सभीके सभी मतिज्ञानके ही पर्यायवाची हैं। अनुमान प्रमाणमें जो दो भेद कहे गए हैं स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, उसमेंसे परार्थानुमान तो श्रुतज्ञानसे सम्बन्ध रखता, पर स्वार्थानुमान तो मतिज्ञानका ही अनर्थान्तर है। फिर इसके और प्रभेद करेंगे तो जो-जो कुछ इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर ज्ञान हुआ करता हैं वे सब प्रकार उस हीमें शामिल हो जायेंगे। जैसे उपमान यह एक सादृश्य प्रत्यभिज्ञानका रूप है अथवा अभाव, यह पदार्थोंके ज्ञानका सद्भावरूप है। किसीका अभाव किसी दूसरे पदार्थके सद्भावके ज्ञानरूप हुआ करता है तो इस प्रकार 'तत्प्रमाणे' इस सूत्रसे दो प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष मानना चाहिए।

**सांख्यवहारिक प्रत्यक्षकी अप्रत्यक्षरूपता** अभी तक जिस प्रत्यक्षकी चर्चा चल रही है वह तो परोक्षज्ञानका ही भेद है। जो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है। वह वास्तवमें मतिज्ञान ही है, परोक्षज्ञान ही है, किन्तु अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा इस सांख्यवहारिक प्रत्यक्षमें एक देश विशद स्पष्ट ज्ञान लगता है, इस कारण इसे व्यवहारसे प्रत्यक्ष माना है। वस्तुतः तो ये सभी परोक्ष ज्ञानके ही भेद हैं। वास्तविक प्रत्यक्षज्ञान इनसे अलग है। वास्तवमें उसका वर्णन आगेके सूत्रोंमें आयेगा। उसका चिन्ह यह है कि जो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा किए बिना केवल आत्मासे ही प्रकट होता है उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। इस प्रत्यक्षज्ञानमें पदार्थज्ञानकी बड़ी स्पष्टता होती है और वहाँ किसी प्रकार संदेह आदिक नहीं हुआ करते। तो आत्मासे ही उत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है और वह प्रत्यक्षज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानरूप है। यह तो जो प्रत्यक्ष चार्वाक द्वारा माना गया है अथवा मति शब्द कहकर या सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर जिसका संकेत किया जाता है वह वास्तवमें परोक्षज्ञान है। इस तरह 'तत्प्रमाणे' इस सूत्रका अर्थ होता है। तत् मायने ज्ञान। प्रमाणे दो प्रमाणरूप है। तत् मायने वह। यह शब्द पूर्व सूत्रका स्मरण कराता है याने जिस ज्ञानको मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें बताया गया है, वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है। तो जब ज्ञान हो वह दो प्रमाणरूप है तो उस ही ज्ञान मेंसे तो छंटनी करनी है कि इन ५ ज्ञानों मेंसे कुछ ज्ञान प्रत्यक्ष हैं और कुछ ज्ञान परोक्ष हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान तो परोक्षज्ञान हैं, क्योंकि इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर उत्पन्न होते हैं, और ये पूर्ण स्पष्ट ज्ञान नहीं है, और कुछ तो स्पष्ट ज्ञान है ही नहीं। और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं। इनमें अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तो एकदेश प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि इनका विषय समग्र सत् नहीं है, और केवलज्ञान सर्वदेश, प्रत्यक्ष है, क्योंकि केवलज्ञानका विषय समग्र सत् है। इस तरह 'तत्प्रमाणे' सूत्रमें प्रमाणे शब्दसे परोक्ष और प्रत्यक्षका ग्रहण किया है और परोक्षमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कहा गया है। तो अब तक जितना इस प्रसंगमें सम्वाद चला वह सब मतिज्ञानके बारेमें ही सम्वाद था। तो मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान ये सब मतिज्ञानके ही अनर्थान्तर हैं।

**श्रुतज्ञानकी प्रमाणरूपता** ज्ञान दो प्रमाणरूप है, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। परोक्ष ज्ञानके मति, स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान ये प्रकार हैं। यद्यपि अनुमानमें स्वार्थानुमान तो मतिज्ञानमें ही अन्तर्भूत होता है, पर वचनात्मक परार्थानुमान मतिज्ञानसे भिन्न है तथा आप्त पुरुषोंके द्वारा कहे हुए वचनोंमें जो प्रमाणता होती है वह श्रुतज्ञान मतिज्ञानसे जुदा है और प्रमाणभूत है। इस प्रसंगपर क्षणिकवादी कह रहे हैं कि ज्ञान तो दो ही होते हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। जो कभी भी उपदेश देता है या तो प्रत्यक्षसे जानकर देता है या अनुमानसे जानकर देता है। प्रत्यक्षमें चार प्रकारके प्रत्यक्ष होते हैं इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानरप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसम्बेदनप्रत्यक्ष। किसी भी प्रत्यक्षतासे जानकर ही तो कोई उपदेश देगा या अनुमानसे जानकर उपदेश देगा। तो जिस ज्ञानसे जानकर उपदेश दिया तो वह उपदेश उस ही ज्ञानमें शामिल होता है, तो प्रत्यक्ष और अनुमानसे जुदा कोई श्रुतज्ञान न मानना चाहिए। यह आशंका युक्त नहीं है, कारण कि सामग्रीका जब भेद है तो ज्ञानका भी भेद बन जाता है। प्रत्यक्ष सामग्री जुदा और अनुमानकी सामग्री जुदा। प्रत्यक्षकी सामग्री है इन्द्रिय, अनुमानकी सामग्री है अविनाभाव हेतु, इन दोनों सामग्रियोंसे भिन्न सामग्री है वचन। तो वचनस्वरूप सामग्रीसे जो उत्पन्न हुआ, ऐसा श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न ही होगा। प्रत्यक्षज्ञान यह इन्द्रियज और मानसिक ज्ञान हीको कहा जा रहा है। यदि योगिप्रत्यक्ष भी माने तो योगिप्रत्यक्ष ज्ञानका विषय, पद्धति जुदी है और वचनोंमें प्रमाणता आती है तो जो पुरुष उन वचनोंको जानकर उसमें उन वचनोंके कारण प्रमाणता अंगीकार करते हैं तो उस ज्ञानकी प्रमाणताकी पद्धति जुदी है। श्रुतज्ञान दो प्रकारके हुए एक परार्थानुमान रूप श्रुतज्ञान और दूसरा आप्तोपदेशके कारण जो अर्थज्ञान हुआ वह श्रुतज्ञान आप्तोपदेशसे हुए श्रुतज्ञानको आगम कहते हैं और परार्थानुमान वाले श्रुतज्ञानको श्रुत कहते हैं। आगम भी श्रुत है और परार्थानुमान भी श्रुत है। इस प्रकार तीन प्रमाण तो मानने ही पड़ते होंगे प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुतज्ञान।

**उपपत्तिपूर्वक दर्शनप्रसिद्ध ६ परोक्ष प्रमाणोंका प्रतिपादन** जैसे स्मरण प्रत्यभिज्ञान और तर्कका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव है तो यों अन्तर्भाव करके फिर दो ही ज्ञान रहे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षज्ञान होता है। सो परोक्षज्ञानोंमें दो ज्ञान आये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान स्वाधीन है, इन्द्रिय और मनसे निरपेक्ष है। वह केवल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। जिसके भेद तीन हैं अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। तो इस तरह इन सभी ज्ञानोंका पराधीनता और स्वाधीनताके नातेसे प्रकार बनानेसे दो प्रकार होते हैं एक परोक्षज्ञान और दूसरा प्रत्यक्षज्ञान। अब यदि कोई ऐसी आशंका रखे कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क ये सब अनुमानके ही रूपक हैं, और ऐसी आशंका रखनेका कारण यह हो सकता है कि जैसे प्रत्यक्षके समान अनुमानमें प्रमाणता नहीं है, उसी प्रकार स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ज्ञानमें भी स्पष्टता नहीं है। सो यहाँ एक देश स्पष्टता और अस्पष्टताके नातेसे तो दो भेद किए जा सकते हैं विशदपरोक्ष और अविशदपरोक्ष।

लेकिन अविशदपरोक्षमें साधन-सामग्रीके भेदसे और विषयके भेदसे भेद होते हैं। जैसे अनुमानका सामग्री है अविनाभाव हेतु और स्मरणका सामग्री है मनके द्वारा पूर्वमें अनुभव किए गए विषयकी याद। तो साक्षात् विषयमें भी भेद है और सामग्रीमें भी भेद है। इसी प्रकार प्रत्यक्षज्ञानका विषय न तो पूर्वकालीन विषय है न वर्तमानकालीन विषय है, किन्तु पूर्व और वर्तमानके बीच रहने वाला एकत्व विषय है, जिसको न प्रत्यक्षज्ञान जानता, न स्मरण ज्ञान जानता, न अनुमान जानता और जो सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदिक है जैसे रोझको देखकर गायका स्मरण हुआ और यह जाना कि यह तो गायके समान है, तो यह कहकर जाने वह तो प्रत्यक्ष है और गायका ख्याल आया वह स्मरण है, किन्तु यह गायके समान है, ऐसा जो उन दोनोंके बीच सदृशताका ज्ञान है वह सदृशता न प्रत्यक्षका विषय है, न अनुमानका है और न स्मरणका है, इसलिए प्रत्यभिज्ञानका विषय जुदा है। इसी प्रकार तर्क ज्ञानका भी विषय इन सबसे जुदा है। तर्क ज्ञानमें जाना जाता है कि जहाँ-जहाँ साधन है वहाँ-वहाँ साध्य होता है। जहाँ साध्य नहीं होता वहाँ साधन नहीं होता। तो इस तर्क ज्ञानके तो साधारणतया सामान्यरूपसे सभी साधनोंका बोध किया और साध्यकी अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति बनाया। यह विषय न तो प्रत्यक्ष है, न अनुमानका है, न स्मरणका है और न प्रत्यभिज्ञानका है। तो यों विषयके भेदसे इन सब ज्ञानोंमें भेद है। इस कारण इसके अनुमानमें अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। हाँ, अविशदज्ञानसे अन्तर्भूत कर लें तो उसका अविशद ज्ञान बोला जायेगा तो वहाँ अनुमान भी न बोलना चाहिए। जैसे स्मरण प्रत्यभिज्ञान और तर्क अविशदज्ञानसे सम्बोधित किया गया ऐसे ही अविशदज्ञानसे सम्बोधित हो गया। इस प्रकार परोक्षज्ञानमें सांख्यवहारिक प्रत्येक स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान ये ५ प्रकार आते हैं। परार्थानुमान श्रुतज्ञान है और वीतराग सर्वज्ञ महर्षि संतों द्वारा उपदेश किए गए वचनोंसे जो अर्थज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। इस प्रकार सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान तथा श्रुतज्ञान इस तरहसे ही ६ ज्ञान परोक्ष ज्ञान मानना चाहिए।

**उपमान अभाव आदि बुद्धियोंका उक्त प्रमाणोंमें अन्तर्भाव बताते हुए प्रकरणका उपसंहार** इनके अतिरिक्त अन्य दार्शनिक कोई उपमान ज्ञान मानते हैं तो वह उपमान ज्ञान तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें ही सम्मिलित होता है अथवा उस उपमान ज्ञानकी ऐसी पद्धति अनुमानके ढंगमें है तो अन्य ज्ञानोंमें सम्मिलित होता है। जो ज्ञान विषय किया उनके भिन्न विषय वाला उपमान ज्ञान नहीं है। कोई दार्शनिक कहता है कि एक अभाव नामका भी प्रमाण होता है। जैसे जहाँ जो चीज नहीं है उसका अभाव जान लें तो अभाव ज्ञान भी तो प्रमाण है। इसको भी अलगसे कहना चाहिए। सो इस विषयका समाधान यह है कि यद्यपि अभाव ज्ञान कई प्रकारसे होता है, जैसे पूर्वपर्यायमें उत्तरपर्यायका अभाव, उत्तर पर्यायमें पूर्वपर्यायका अभाव। वर्तमान दो पर्यायमें परस्परका एकका दूसरेमें अभाव और एक द्रव्यका दूसरेमें आत्यंतिक अभाव। सो अभावके प्रकार यद्यपि चार हैं तो भी ये सभी अभाव



किसी दूसरेके सद्भावरूप ही होते हैं। असत् प्रमेय नहीं हो सकता, ज्ञानका विषय सत् ही है। असत् विषय नहीं है। तो जितने भी अभाव हैं वे सब किसीके सद्भाव रूप होते हैं। जैसे प्रागभावमें यह जानें कि घटका प्रागभाव पूर्वपर्याय याने मिट्टीका लौंदा तो घटका प्रागभावका मिट्टीका लौंदा देखकर ही तो विषय किया। उसे समझकर ही तो जाना गया अथवा घटका प्रध्वंसाभाव खपरिया है। तो खपरियोंका सद्भावरूप ही तो घटमें अभाव पड़ा, एक दूसरेका परस्परमें जो अभाव है पर्यायका वह जिसके बीचकी बात कहे वह दूसरेके सद्भावरूप पड़ता है और द्रव्योंमें जिस द्रव्यका जिसमें अभाव बताया जाये उसका सद्भाव रूप पड़ता है। तो जे सत् पदार्थविषयक ज्ञान है वह प्रत्यक्ष स्मरण आदिक जो ज्ञान बताये गये उन हीके विषयभूत बनते हैं। इस प्रकार मूलमें तो इसका ज्ञान है परोक्ष और प्रत्यक्ष और उनके प्रकार किए जायें तो परोक्षके दो प्रकार हैं एकदेश विशद और अविशद। अविशद चार प्रकारके हैं स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तक और स्वार्थानुमान, इन सबके अतिरिक्त है श्रुतज्ञान, यह तो परोक्षज्ञान है और प्रत्यक्षज्ञान पारमार्थिक है, जिसका भी अलग सूत्रमें वर्णन आयेगा।

**ज्ञानके भेद-प्रभेद स्वरूपके वर्णनका आधारभूत प्रकरण** इस मोक्षशास्त्रमें संसारी श्रेणियोंके संसारसे छुटकारा दिलानेका उपाय कहा है। वह उपाय है जिसका छुटकारा करना है उसके सहजस्वरूपका ज्ञान और विश्वास तथा उस हीमें रम जाना। कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे छुटकारा पाता है तो इसी तरह तो पाता है कि वह प्रकट रूपमें वही मात्र अकेला रह जाये। तो यह आत्मा जो शरीर व कर्मोंसे बंधा हुआ है वह अकेला रह जाये, इसका उपाय है इस अकेले सहजस्वरूपका विश्वास, ज्ञान और इस ही स्वरूपमें रमण। इस हीको कहते हैं रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन तो निश्चयतः सहज आत्मतत्त्वका श्रद्धान है और उसका साधन ७ तत्त्वोंका श्रद्धान है। यह सम्यग्दर्शन किसीके तत्काल उपदेश का निमित्त पाकर होता है तो किसीको उपदेशके बिना भी हो जाता है। सभी सम्यग्दर्शनोंमें इस जीवको भावरूपसे ७ तत्त्वोंका श्रद्धान पड़ा हुआ है। जो जीव ७ तत्त्वोंका नाम भी नहीं ले पाते उनको भी ७ तत्त्वोंमें गत एकत्वका श्रद्धान अवश्य है। भावरूपसे उनको यह परिचय है। परपदार्थोंमें लक्ष्य लेनेसे आस्रव बंध होते हैं। स्वमें लक्ष्य होनेसे सम्वर निर्जरा होती है। जैसा पदार्थका स्वरूप है वैसा ही ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है। और रागद्वेष जो संसारमें रुलाने वाले हैं उनकी निवृत्ति हो जाना सम्यक्चारित्र है। इस तरहसे सब तत्त्वोंका परिचय प्रमाण और नयोंसे होता है। इसका व्यवहार चार निक्षेपोंसे होता है। व्यवहार जहाँ ठीक चल रहा है वहाँ प्रमाण और नयकी गति भी चलती है। प्रमाण और नयोंके द्वारा सम्यग्ज्ञानतया जानकारी बनती है और उस हीके विशेष हैं अन्य उपाय। जैसे वस्तुका निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण स्थिति और विधान बताना। वस्तुस्वरूपको और विशेष रूपसे जानना है तो सत् संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व इन उपायोंसे भी परिचय करना

होता है। वस्तुके परिचयका उपाय बताकर जो उपाय है वह सब ज्ञानरूप है। अतएव ज्ञानके सम्बन्धमें कुछ स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। उसीको कहते हैं कि यह ज्ञान ५ ज्ञानरूप है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ज्ञान इन ५ पर्यायोंमें रहता है। ज्ञान ही प्रमाण है। अज्ञान कभी प्रमाण नहीं बन सकता। इस ज्ञानके सम्बन्धमें अनेक दार्शनिक अनेक प्रकारकी धारणा बनाते हैं। कोई ज्ञानको किसी अन्य ज्ञानसे जानना मानते हैं। कोई ज्ञानको अनेक प्रकारकी जड़-सामग्रीसे उत्पन्न होना मानते हैं, लेकिन ज्ञान स्वयं जब प्रकाशस्वरूप है तो उस ही ज्ञानको उस ही रूपमें जानने और अनुभवनेके लिए स्वयं समर्थ हैं, अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती है। ज्ञान तो एक ही प्रकारसे बर्तत है, किन्तु अनादिकालसे रागद्वेष मलीमस होनेके कारण जो अज्ञानमें बर्त रहा है और विषय संस्कारमें चल रहा है उपयोग इसका, सो परके अभिमुख हो जानेके कारण ज्ञानसे विमुख होनेके कारण कुछ ज्ञान-विकासके लिए यह परतंत्र स्थितिमें इन्द्रिय और मन साधन होते हैं। भले ही इन्द्रिय और मन साधन हों, फिर भी ज्ञान ज्ञानसे ही प्रकट होता है, किसी अन्यसे प्रकट नहीं होता। यह ज्ञान जिस-जिस ज्ञानवरणका अलगाव होता जाता है वैसे ही विशेष-विशेष विकास होता जाता है और जहाँ सम्पूर्णतया ज्ञानावरणका विकास हो जाता है वहाँ केवल ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसे ही ये सभी ज्ञान प्रमाण रूप हैं।

**प्रमाणोंके सम्बन्धमें स्फुट तथ्यका प्रकाशन** ये सभी ज्ञान अपने विषयमें प्रमाणभूत हैं और अविषयमें अप्रमाण रहते हैं। जैसे मतिज्ञानसे जाना जो भी विषय उस विषयके आधारभूत द्रव्यमें अनेक अवस्थायें पड़ी हैंपर शेष अनेक धर्मोंकी अपेक्षा वह ज्ञान प्रमाण नहीं है और जिस ज्ञानका विषय जिस अंशमें बन रहा है उस विषयमें उस अंशसे वह प्रमाणभूत होता है। प्रमाणमें प्रमाणता कब होती है इस विषयमें भी अनेक दार्शनिकोंके अनेक प्रकारके ख्याल हैं। किन्हीं दार्शनिकोंका ख्याल है कि प्रमाणमें प्रमाणताकी उत्पत्ति किसी अन्य ज्ञानादिसे होती है और किन्हीं दार्शनिकोंका सिद्धान्त है कि प्रमाणमें प्रमाणपनेकी उत्पत्ति स्वयमेव होती है। इस प्रकार प्रमाणमें प्रमाणता है, इस प्रकारकी जानकारी किसीके सिद्धान्तमें परसे होती है। किन्हींके सिद्धान्तमें स्वयं ही होती है। इस प्रामाण्यकी उत्पत्ति और ज्ञप्तिके सम्बन्ध में जैन सिद्धान्तने यह स्पष्ट किया है कि अभ्यास दशामें तो प्रामाण्य स्वतः होता है और अनभ्यास दशामें प्रामाण्य परसे हुआ करता है। ऐसा प्रमाणके सम्बन्धमें जब सभी दृष्टियोंसे परिचय हो जाता है तब प्रमाणके विशेषोंकी सिद्धि सुगमतया बन जाती है। जो अपना और पदार्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान है उस ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। अब यह लक्षण जिन-जिन विशेषोंमें पहुंचे वे-वे सब विषय प्रमाण कहलाते हैं। उन प्रमाणोंके प्रकारोंमें प्रामाण्यरूप तो सबमें एक समान है अर्थात् प्रमाणता है और विशेष रूपसे चूँकि विषयभूत है, सामग्रीभेद है, इस कारण वे सभी ज्ञान नाना प्रकारके बन जते हैं। और इस आधारसे यह ज्ञान दो प्रमाणभूत मूलमें बना। एक तो वह ज्ञान जो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा कर उत्पन्न होता है और

एक वह ज्ञान जो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा नहीं करता, किन्तु मात्र आत्मासे उत्पन्न होता है, उस ज्ञानका नाम है प्रत्यक्ष ।

ऐसा प्रमाण दो ज्ञानरूप हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष । परोक्ष ज्ञानोंमें एक इन्द्रियजन्य मतिज्ञान एकदेश स्पष्ट रखनेके कारण सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है । वस्तुतः वह भी परोक्ष है । ऐसा परोक्षज्ञान मति, स्मरण, संज्ञा, तर्क और अनुमान इन भेदोंसे ५ प्रकारका होता है । ये ५ प्रकारके ज्ञान परोक्षा ज्ञान हैं । प्रत्यक्षज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, इस प्रकार तीन प्रकारका है । ऐसा 'तत्प्रमाणे' इस सूत्रमें द्विवचन रूप रखे गए प्रमाण शब्दसे यह अर्थ ध्वनित हुआ कि वह ज्ञान दो प्रमाणरूप है । हम आप लोगोंको जब कभी भी बड़े निश्चयपूर्वक ज्ञान होता है तो वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान मेंसे है और यदि अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो उस रूपसे भी प्रकट होता है । हमें यहाँ यह बोध रखना चाहिए कि चाहे कितने ही प्रकारके साधनोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति हुई है, मगर ऐसे निमित्तनैमित्तिक योगके सम्बन्धमें भी यह बात स्पष्टतया जाहिर रहती है कि ज्ञान अपने ही ज्ञानस्वरूपको लेकर अपने ही ज्ञानस्वरूपके स्रोतसे उत्पन्न हुआ है । इस तरह प्रमाणका मौलिक प्रकार बताया गया है । अब प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्षका वर्णन करनेके लिए आगे सूत्र कहेंगे ।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त ॥